जॉन केनेथ गैलब्रेथ

आर्थिक विकास का सापेक्ष चित्रण

•

अनुवादक

हरिप्रताप सिंह

1963

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-6

AARTHIK VIKAS KA SAPEKSH CHITRAN

(Hindi Version of *Economic Development in Perspective*)

by

John Kenneth Galbraith

Translated by

Hari Pratap Singh

Rs. 2 00

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ
हौज खास, नई दिल्ली
माई हीरां गेट, जालन्धर
चौड़ा रास्ता, जयपुर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
महानगर, लखनऊ 6

प्रथम संस्करण : 1963
मूल्य : दो रुपए

मुद्रक
[illegible]
[illegible]

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक उन पाँच भाषणो का परिणाम है, जो मैंने भारत की पाँच प्रधान शिक्षा-संस्थाओ—मद्रास विश्वविद्यालय, कलकत्ता विश्वविद्यालय, बम्बई विश्वविद्यालय, राजस्थान विश्वविद्यालय तथा नई दिल्ली स्थित इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन (सार्वजनिक प्रशासन शिक्षा संस्था) मे सन् 1961 की ग्रीष्म और शरद ऋतु मे दिये थे। हाल के कुछ वर्षों मे आर्थिक विकास से सम्बन्धित साहित्य बड़ा विस्तृत एव व्यापक हो गया है तथा उसकी भाषा बड़ी जटिल। ऐसी सूरत मे इस बात का खतरा हमेशा ही बना रहता है कि मुख्य बातो की उपेक्षा हो जाय। रुचिकर विवरणो से सम्बन्धित वादविवाद के उत्साह मे हम समस्या के केवल एक अंग को ही पूरी समस्या मान लेने की गलती कर बैठते है। जैसा कि पुस्तक का नाम ही बतलाता है, इन भाषणो मे इस बात का प्रयत्न किया गया है कि विकास कार्य इस ढग से प्रस्तुत किया जाय कि उसके महत्त्वपूर्ण तथा अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण सभी पहलू अशेष रूप से सामने आ जायें। यह कहना कदाचित् अधिक सही होगा कि पाँच

पणो में से चार का यही उद्देश्य था; पांचवां कुछ विशिष्ट प्रकार का
क्योंकि उसका सम्बन्ध इस महत्त्वपूर्ण समस्या से है कि औद्योगिक विकास
प्रमुख साधन, अर्थात् कम्पनी या निगम, का उपयोग किस प्रकार किया
म।

इन भाषणो मे जब न केवल भारत अपितु विदेशों में भी लोगो ने कुछ
लचस्पी दिखलायी, तो मैं उन्हें पुनः इस रूप में प्रस्तुत करने के लिये
ना किसी कठिनाई के ही तैयार हो गया। मुझे आशा है कि ये भाषण
समस्या को समझने मे थोडा सहायक होगे, जो निश्चय ही आज की
धिक महत्त्वपूर्ण एवं मानव-हित की समस्या है तथा जिसे हल करने
लोग लगे हुए हैं। मैं यह नही कह सकता कि पुस्तक मे लिखी हुई सभी
तों से सब लोग सहमत होगे। यह तो कुछ सन्तोष की बात होगी कि
की असम्मति मुझमे है। सघटन के इस युग मे कुछ ऐसी बातें होगी
जो व्यक्तियो की ही क्षमता एव अधिकारक्षेत्र तक सीमित रहती
। प्रस्तुत पुस्तक मे जिस प्रकार की चर्चा है, वह इस बात का एक
दाहरण है।

जा० ने० गो०

क्रम

I

आर्थिक विकास का सापेक्ष चित्रण

द्वितीय महायुद्ध के बाद मे, ससार भर के सभी शिक्षित समाज मे आर्थिक विकास के सम्बन्ध मे अत्यन्त ज़ोरदार चर्चा, वाद-विवाद आदि हुए है। यद्यपि तुलना करते समय हमें हमेशा ही सावधान रहना चाहिए, प्रबलता में इस वाद-विवाद की तुलना उस विवाद से की जा सकती है जो स्मिथ द्वारा सन् 1776 ई० में 'राष्ट्रों की समृद्धि का स्वरूप तथा उसके कारणों' के सम्बन्ध में की गई जाँच रिपोर्ट के प्रकाशन के पश्चात् प्रारम्भ हो गया था, तथा जिसमें अगले साठ या सत्तर वर्षों में बेन्थम, माल्थूज, जॉन स्टुअर्ट तथा कुछ अन्य लोगों ने उल्लेख्य योगदान किये थे। आज भी वैसा ही अवसर है। आज भी, उस समय की भांति, विभिन्न राष्ट्र अपने राष्ट्रीय विकास के प्रारम्भिक अवस्थानों पर हैं। एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित देश ठीक उसी प्रकार उन प्रक्रियाओं को समझने के प्रयत्न मे हैं, जिन पर प्रगति निर्भर होगी ... अठारहवीं शताब्दी ... मे पश्चिमी ... वर्षों मे

आर्थिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक विकसित देशों के विद्वान् इन वाद-विवादों में सम्मिलित हो गये हैं तथा कभी-कभी उन्होंने इनका नेतृत्व भी किया है। गत कुछ वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका में विकास के अर्थ-सिद्धान्त में गहरी दिलचस्पी दिखाई गई है, इस पर अमरीकी जनता गर्व कर सकती है।

नये राज्यों तथा पुराने राज्यों दोनों में ही यह मान लिया गया है कि आर्थिक विकास एक अनिवार्य वस्तु है। वस्तुत: हाल के वाद-विवादों की यही बात पहले के वाद-विवादों की तुलना में एक विशेष बात हुई है। कम-से-कम मार्क्स के समय तक आर्थिक प्रगति की समस्या की छानबीन एक प्रकार की दार्शनिक विरक्ति के साथ हुई थी। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से उसे अत्यन्त गम्भीर एवं आवश्यक मान लिया गया है। उन्नीसवी शताब्दी का वाद-विवाद एक ऐसी दुनिया में हुआ था, जो उस समय जो-कुछ भी हो रहा था, उसी पर एक प्रकार से गर्व का अनुभव कर रही थी। परन्तु बीसवीं शताब्दी का वाद-विवाद एक ऐसी दुनिया में हो रहा है, जो यह महसूस करती है कि बहुत-कुछ और होना चाहिए, और वह भी बहुत शीघ्र।

विकास के सम्बन्ध में हुआ हाल का वाद-विवाद पहले के वाद-विवाद से इस अर्थ में और भी भिन्न है कि वह बहुत ही जटिल तथा तथ्यात्मक हो गया है। अब हमारे सामने प्रगति के नमूने हैं—आर्थिक प्रगति की प्रक्रिया के रूप से सम्बन्धित उप-कल्पनाएँ हैं—जिनमें कुछ तो गणित की पेचीदगियों से भरी हैं तथा थोड़ी-सी ऐसी भी हैं, जो बिल्कुल ही समझ [illegible]

पूंजी उत्पादन के अनुपातों तथा सीमान्त पूंजी-उत्पादन के अनुपातों का हिसाब अब बहुत-कुछ पांच, सात और दस-वर्षीय योजनाओं तथा ऐसी ही आगे की भी योजनाओं के लिए सामूहिक उत्पादन के आधार पर किया जाता है। अपेक्षाकृत कम विकसित देशों में बाहर से विभिन्न प्रतिनिधि-मण्डल आते हैं, और वे अपने पूर्वनिश्चित कार्यक्रमों तक ही सीमित रहकर तथा नई सूचनाएँ एकत्र कर या पूर्वविदित बातों का ही प्रसन्नतापूर्वक पुन. अनुसंधान कर वापस चले जाते हैं और इस प्रकार एक-दूसरे से मिलना बचा जाते हैं। अब पिछड़ेपन के सम्बन्ध मे एक समाज-विज्ञान तथा एक काफी बड़ा मानव-विज्ञान भी है। कहा जाता है कि सात वर्ष की अवस्था मे ही मिल ग्रीक तथा लेटिन भाषाओं का पण्डित बन गया था। यदि वह आज, अपनी मृत्यु के लगभग नब्बे वर्ष बाद, पुन. जन्म लेता, तो यह देखकर कि जिन विषयों पर उसने अपने समय में लिखा था, वे अब कितने जटिल हो गए हैं, कदाचित् वह प्लेटो (अफलातून) तथा जेनोफोन के साथ ही बने रहने का निर्णय करता।

परन्तु जटिलता को पूर्णता मान लेना या तथ्यात्मक विश्लेषण को बुद्धिमानी मान लेना गलती होगी। इस आधुनिक वाद-विवाद में कुछ गम्भीर त्रुटियां हैं। और पहले के वाद-विवाद से तुलना करने पर ये त्रुटियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

. 2 .

यह हमारे लिए गर्व की बात है कि विकास सम्बन्धी हाल का वाद-विवाद वैज्ञानिक ढंग पर हुआ है, जिसके अन्तर्गत पारि-

बहुत चर्चा हो चुकी है।

उन्नीसवीं शताब्दी का वाद-विवाद अपेक्षाकृत कम व्यक्तियों द्वारा ही हुआ था। वह इस प्रकार का था ही कि कुछ ऐसे लोगों तक ही सीमित रहा, जो बड़ी-बड़ी समस्याओं को समझ सकते थे तथा उन्हें एक सूत्र में बाँध सकते थे। इस प्रकार केवल महान् व्यक्ति ही उसमें भाग ले सकते थे—हमने बहुधा ही सुन रखा है कि प्रत्येक पीढ़ी केवल एक ही दार्शनिक उत्पन्न करती है। आजकल हममें से जो बोलने आदि का प्रयत्न करते हैं, उनके सौभाग्य से आधुनिक वाद-विवाद अपेक्षाकृत अधिक लोकतान्त्रिक रहा है। ऐसा इसलिए है कि वह समस्या के केवल कुछ पहलुओं तक ही सीमित रहा है, न कि समूची समस्या के विषय में। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं, जो समाज के प्रति एक सर्वव्यापी उपयोगी दृष्टिकोण रखते हों। बहुत-से लोग अल्प-मात्रा में ही ज्ञान का योगदान कर सकते हैं। किसी दार्शनिक अथवा धार्मिक विचार, तथा आर्थिक परिवर्तन में क्या सम्बन्ध होता है, इसे स्पष्टतया दर्शाना कदाचित् आसान नहीं है। परन्तु अगली पचवर्षीय योजना में मशीन-पुर्जों को लेकर प्राथमिकता देने के सम्बन्ध में लगभग प्रत्येक व्यक्ति कोई-न-कोई उपयोगी सुझाव प्रदान कर सकता है।

मेरे विचार में आर्थिक विकास-सम्बन्धी आधुनिक वाद-विवाद की कमज़ोरी और खतरा इसी बात में है। हम उत्साह-पूर्वक और बड़ी क्षमता से समस्या के खंडों के सम्बन्ध में विचार करते आए हैं; परन्तु हमने शायद ही कभी यह सोचा हो कि क्या इन खण्डों के अलग-अलग हल से पूरी समस्या का स्थायी

रूप से हल हो जाता है। हमने उन बातों पर तो ध्यान दिया है, जो आर्थिक विकास में सहायक होती हैं, परन्तु यह जानने का हमने बहुत कम प्रयत्न किया है कि क्या उनका उपयोग ऐसे सन्दर्भ में हो रहा है, जो विकास के अनुकूल हो। इसके परिणाम-स्वरूप कदाचित् ऐसे कार्य करने मे अपना काफी समय और प्रयत्न बरबाद किया है, जो स्वयं में तो ठीक थे परन्तु जो प्रगति में अल्पमात्र या बिल्कुल ही नहीं सहायक हुए, क्योंकि वे एक ऐसे वातावरण में किए गए थे जो प्रगति के अनुकूल नही था। इस वातावरण की भली भाँति जाँच नहीं की गई और जैसे-तैसे यह मान लिया गया कि वह विकास के अनुकूल है।

. 3 .

अब मैं और स्पष्ट होना चाहता हूँ। द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में आर्थिक विकास के लिए आवश्यक बातों पर सर्वांगीण रूप से विचार करने के अभाव में, जैसा कि वह एक शताब्दी पहले हुआ था, हमने दो बातें मान रखी हैं। वे निम्न हैं :

(1) संसार विकसित तथा अर्द्धविकसित देशों के दो स्पष्ट गुटों में विभाजित है। विकसित देशों में आर्थिक प्रगति लगभग स्वचालित है—या कम-से-कम यह सम्बन्धित देश की शक्ति के परे नहीं है, बशर्ते वह एक सुनियोजित आर्थिक नीति का अनुसरण करता है। किसी भी अर्द्धविकसित देश में विकास सम्भव है। उसे आवश्यकता है केवल उन साधनों की, जो उसे अब तक नहीं प्राप्त हो सके हैं।

(2) ये अप्राप्त साधन, जिनको लेकर लगभग सभी एकमत हैं, हैं आधुनिक शिल्प-ज्ञान पूंजी, विशेष प्रकार से प्रशिक्षित कुछ लोग तथा पूंजी का इन प्रशिक्षित लोगों का और शिल्प-ज्ञान का उपयोग करने के लिए एक ठोस योजना। यदि वे प्रदान कर दिए जाएँ तो प्रगति अवश्यम्भावी है।

आर्थिक विकास के लिए आदर्श नुस्खा इसी निदान के आधार पर तैयार होता है। शिल्प-ज्ञान सम्बन्धी सहायता विदेशों से प्राप्त की जाती है। घरेलू बचत से तथा घरेलू एवं विदेशी दोनों सूत्रों से पूंजी में वृद्धि करने के लिए उपाय किए जाते हैं। प्रशिक्षित होने के लिए कुछ लोग विदेशों मे भेजे जाते हैं। एक पंचवर्षीय या सातवर्षीय या दसवर्षीय योजना तैयार की जाती है।

यह कार्य निश्चय ही निर्दोष सिद्ध होगा, बशर्ते विकास समस्या का निदान निर्दोष हो। यदि यह निदान ही दोषपूर्ण है, तो हमारे बहुत-से प्रयत्न निरर्थक एवं व्यर्थ सिद्ध होंगे। मुझे यह कहते बड़ा खेद होता है कि निदान बड़ा दोषपूर्ण है और उसमें भारी सुधार की आवश्यकता है। यह बात कि यह निदान अधिकांश अन्य देशों की तुलना में भारत के लिए लगभग उपयुक्त है, भारत में भी केवल सीमित मात्रा मे ही सन्तोष प्रदान कर सकती है, क्योंकि गरीबी और दरिद्रता पर विजय प्राप्त करना एक ऐसा कार्य है जो सारी मानव जाति के लिए चिन्ता का विषय है। आइये अब हम कुछ व्यावहारिक मामलों के सन्दर्भ में इस निदान पर विचार करें।

. ४ .

हमने ऊपर कहा है कि अभाव की वस्तुएँ पूंजी तथा शिल्प-ज्ञान हैं। परन्तु बहुत-से नवोदित अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय सरकार अब भी प्रारम्भिक अवस्थाओं पर है, तथा लेटिन अमेरिका (दक्षिणी अमेरिका) के अनेक भागों में वह कार्यक्षमता के निम्नतम स्तर पर भी कभी नहीं पहुँच सकी है। इन परिस्थितियों में पूंजी लगाने में, चाहे वह सार्वजनिक पूंजी हो या निजी, दोषपूर्ण सार्वजनिक प्रशासन जन्य-जोखिमों, अनिश्चितताओं तथा अनियमितताओं का भय बना रहता है। यह सोचना व्यर्थ है कि बिना किसी अच्छी सरकार के अच्छी विकास योजाएँ तैयार या कार्यान्वित की जा सकती हैं। और, जब प्रशासन ढीला या दोषपूर्ण हो, तो न तो शिल्प-ज्ञान सम्बन्धी सहायता और न प्रशिक्षित शिल्पी ही कुछ कर सकते हैं, और वे बहुत आवश्यक भी नहीं होते। सर्वश्रेष्ठ कृषि-वैज्ञानिक को भी यदि किसी निर्जीव मंत्रालय का सलाहकार बनना हो, तो वह क्या कर सकता है? कर-सम्बन्धी अच्छा-से-अच्छा अधिकारी कुछ नहीं कर सकता, यदि सम्बन्धित मंत्री कर वसूल करने में विश्वास नहीं करता, वैसा करना भी नहीं चाहता या अपने मित्रों के प्रति आवश्यकता से अधिक सहृदयता का भाव रखता है। ऐसी सूरत में पहला काम पूंजी या टेकनीशियनों का प्राप्त करना नहीं है, अपितु सार्वजनिक प्रशासन के सभी अवयवों को सूक्ष्म बनाना है।

गत शताब्दी में आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति के लिए सभी आवश्यक बातों में जितना महत्वपूर्ण स्थान सार्वजनिक शिक्षा तथा लोक जागरण को दिया गया था, उतना अन्य किसी

को नही। आज के नवोदित राष्ट्रों में, या उन पुराने राष्ट्रों में, जहाँ लोक शिक्षा विकसित रूप मे नही हो रही है, स्कूली पुस्तको को मशीन के औजारो की तुलना मे वरीयता दी जानी चाहिए। लोकशिक्षा कुछ थोड़े से लोगों की नही, अपितु भारी संख्या मे लोगों की प्रतिभा प्रस्फुटित करती है। और वह शिल्प-ज्ञान का द्वार खोल देती है। पढ़े-लिखे लोग ही यह समझेंगे कि मशीनो की अब आवश्यकता है। परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि मशीनें यह समझेंगी कि पढ़े-लिखे लोगों की आवश्यकता है। इस प्रकार, कम-से-कम कुछ परिस्थितियों मे लोकशिक्षा को बाँधो, कारखानों तथा पूंजी बढाने के अन्य साज-सामानों की तुलना मे वरीयता मिलेगी।

अत मे, बहुत-से देशो मे सम्पूर्ण पद्धति पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर सामाजिक व्यवस्था की त्रुटियो पर ही दृष्टि पड़ेगी—उन व्यवस्थाओ पर जिनके अन्तर्गत धन और राजनीतिक सत्ता जन समुदाय के एक छोटे-से अल्प-सख्यक वर्ग के ही एकाधिकार है और परिणामत: जनसाधारण उन्नति के सभी उपकरणों से दूर ही रखा जाता है। अच्छा-से-अच्छा कृषि-सुधार विशेषज्ञ गेहूँ के एक दाने के स्थान पर दो दाने पैदा करने का फायदा नहीं समझा सकता, यदि कृषक यह भली भाँति जानता है कि ये दोनो दाने अनिवार्यत: उसके जमीदार के पास ही पहुँच जायेंगे। कृषि-उत्पादन मे पूंजी लगाने के अच्छे-से-अच्छे रूप या कृषि-विस्तार की अच्छी-से-अच्छी शैलियाँ व्यर्थ हैं, यदि किसान युगों के अपने अनुभव से यह जानता है कि उससे प्राप्त होनेवाले लाभ उसे नही मिलेंगे।

संक्षेप में, समस्या पर एक सरसरी निगाह डालने पर भी, अच्छी और दक्ष सरकार, शिक्षा तथा सामाजिक न्याय मार्मिक रूप से महत्वपूर्ण दीख पड़ते हैं। अनेक देशों में, प्रगति में बाधक बातों की जांच करने पर पता चलता है कि इन्हीं बातों की कमी ही मार्मिक रूप से महत्वपूर्ण है। इससे यह परिणाम निकलता है कि जब तक ये बाधाएँ दूर नहीं कर दी जातीं, पूंजी लगाने तथा शिल्प-ज्ञान की सहायता से कोई लाभ नहीं होगा। कागज पर भले ही योजनाएँ बड़ी बन जाएँ, उनसे परिणाम सूक्ष्म ही निकलेंगे।

. 6 .

मैंने ऊपर कहा है कि विकसित न होने के कारण का यह निदान, जिसमें पूंजी, शिल्प-ज्ञान की सहायता तथा नियोजन पर अधिक बल दिया जाता है, भारत जैसे देश के मामले में कोई बहुत अनुपयुक्त नहीं है। भारत मे एक अच्छी और दक्ष सरकार है, शिक्षित लोग भी काफ़ी संख्या में है; प्रशासकीय तथा उपक्रमी प्रतिभा के लोग भी यहाँ काफी सख्या मे हैं, सामाजिक न्याय तथा सामाजिक प्रगति प्राप्त करने का लक्ष्य निश्चित रूप से निर्दिष्ट कर दिया गया है। इसके साथ ही साथ व्यय करने की प्रवृत्ति अधिक है तथा बचाने की कम, और पूँजी उपलब्ध करने की समस्या उस अंश के लिए विशेष रूप से गंभीर है, जिसे विदेशों से प्राप्त करना है। इन परिस्थितियों में पूंजी लगाने के कार्य मे वित्तीय सहायता प्रदान करने के प्रश्न पर स्वभावतः ध्यान केन्द्रित हो गया है।

विकास समस्या को ग़लत समझने का यहाँ एक महत्वपूर्ण

कारण है। चीन को छोड़कर, अर्द्धविकसित देशों मे भारत का क्षेत्र सबसे बड़ा तथा सर्वाधिक आबादी वाला देश है। उसके विकास के प्रश्न ने जितना ध्यान आकर्षित किया है, उतना अन्य किसी देश के नही। इसका एक कारण तो यह है कि उसके पास अत्यंत कुशल आयोजक तथा अत्यन्त ओजस्वी पत्रकार एवं प्रोफेसर है। त्रुटियो के बावजूद, भारत के पास सर्वश्रेष्ठ आँकड़े भी हैं, और जैसा कि सभी अर्थशास्त्री जानते हैं, किसी ऐसे देश के विकास के सम्बन्ध मे योजना आदि तैयार करना बड़ा कठिन है, जिसके सम्बन्ध में मोटे तौर पर राष्ट्रीय उत्पादन के एक काल्पनिक आँकड़े भी न उपलब्ध हों। इसका परिणाम यह हुआ है कि सारा संसार भारत के अनुभव को ही, या यह कहना अधिक सही है, कि भारत तथा पाकिस्तान के अनुभव को ही, विकास की संज्ञा देने लगा है, और जिस हद तक वास्तव मे ऐसा समझा जाने लगा है, उससे बहुत कम लोग ऐसा महसूस करते है। चूंकि इन देशो मे पूंजी तथा प्रशिक्षित टेकनीशियनो की कमी ही विकास में बाधक हैं, अन्य देशों मे भी ये ही बाते बाधक समझी जाने लगी हैं। चूंकि भारत तथा पाकिस्तान में कुशल नियोजन संभव है, ऐसा मान लिया जाता है कि वह सभी जगह संभव है।

पूंजी तथा प्राविधिक शिल्प-ज्ञान एव शिल्पियो पर जो आवश्यकता से अधिक बल दिया जा रहा है, उसके लिये कुछ अंश में संयुक्त राज्य अमेरिका भी जिम्मेदार है। राष्ट्र के रूप में हमारे हृदयो में पैसे तथा उसके उपयोगो के लिए एक यथोचित आदर है। और अमेरिका में कोई आर्थिक सफलता सरकार की बदलती हुई इच्छा पर नही आधारित होती, उचित सामाजिक

चाहिए कि आर्थिक विकास एक प्रक्रिया है[1]—ऐसी प्रक्रिया जिसका विस्तार अफ्रीका के नये राष्ट्रों से लेकर पाश्चात्य देशों के विशाल आर्थिक और सामाजिक ढांचे तक, परन्तु उनके आदिम जातीय ढांचे से तनिक भिन्न रूप में फैला हुआ है। इस अनवरत प्रक्रिया के प्रत्येक अवस्थान पर वहाँ से आगे बढ़ने के लिए एक उपयुक्त नीति होती है। जो नीति किसी एक अवस्थान के लिए सही होती है, वह किसी दूसरे अवस्थान के लिए गलत होती है।

प्रारम्भिक अवस्थानों में निश्चय ही उसमें सार्वजनिक प्रशासन के विभिन्न अवयवों का निर्माण करना तथा कुछ शिक्षित अल्पसंख्यकों की व्यवस्था करना आवश्यक होता है, ऐसे लोगों का एक अल्प समूह, जो सार्वजनिक प्रशासन की पद्धति का तथा उससे सम्बन्धित अन्य बातों का निर्माण कर सकें। इसके बाद लोक जागरण का काम आता है। यह जागरण जनसाधारण को आर्थिक क्रियाकलाप में भाग लेने के योग्य बना देता है। और वह लोगों के मस्तिष्कों को नये तरीकों तथा नई शैलियों के ऐसा अनुकूल बना देता है, जैसा वे अन्य किसी तरीके से नहीं बन सकते। सांस्कृतिक पहलू के अतिरिक्त, लोक शिक्षा एक बड़ी अच्छी तथा उपयोगी वस्तु है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि वह लोक प्रेरणा का प्रमुख स्रोत भी है। ऐसा होने के

1 यद्यपि प्रोफेसर रोस्टोव के तर्क अनिवार्यतः विवादास्पद होते हैं, उनका अनुपम योगदान यह हुआ है कि उन्होंने विकास की समस्या पर विचार करने वालों का ध्यान अद्भुत ढंग से इस दिशा की ओर मोड़ दिया है। (दीलत कैम्ब्रिज द्वारा सन् 1960 में प्रकाशित 'दी स्टेजेज आफ इकना-मिक ग्रोथ'।)

साधारण उत्पन्न करने पर नहीं आधारित होती, निश्चित कर्म-चारी ढूँढ लेने पर नहीं आधारित होती, क्योंकि ये वस्तुएं तो उपलब्ध है ही और ऐसा मान लिया जाता है कि ये हैं। यह सफलता पूंजी प्राप्त करने तथा इंजीनियरों, वैज्ञानिकों और टेक्नीशियनों की भरती करने पर आधारित होती है। संक्षेप में, संसार ने इस पश्चिमी उप-महाद्वीप के अनुभव के आधार पर एक सर्वव्यापी निष्कर्ष निकाल लिया है, और हमने अपने ही अनुभव पर ऐसा व्यापक नियम बना लिया है। जो लोग इन मामलों में सहयोग की सराहना करते हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए कि यह आर्थिक विकास के विद्यार्थियों को गुमराह भी कर सकता है।

. 6 .

इससे क्या शिक्षा मिलती है ? यह बात नहीं है कि पूंजी या प्राविधिक सहायता या शिल्प-प्रशिक्षण महत्वपूर्ण नहीं है या नियोजन समय की बरबादी है। भारत, जहां ये बातें अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसके खडन में ज्वलंत उदाहरण है। शिक्षा यह मिलती है कि अविकास के कारणों का अब केवल एक निदान नहीं हो सकता। इसके विपरीत, अमुक देश के लिए अमुक प्रकार का उसी के उपयुक्त निदान होना चाहिए। और ऐसे बहुत थोड़े से ही देश होंगे, जिनमे पिछड़ेपन के कारण या प्रगति की आवश्यकताएँ एक ही हों।

अधिक स्पष्ट रूप मे कहा जाए, तो हमें यह मान लेना

चाहिए कि आर्थिक विकास एक प्रक्रिया है—ऐसी प्रक्रिया जिसका विस्तार अफ्रीका के नये राष्ट्रों से लेकर पाश्चात्य देशों के विशाल आर्थिक और सामाजिक ढाँचे तक, परन्तु उनके आदिम जातीय ढाँचे से तनिक भिन्न रूप में फैला हुआ है। इस अनवरत प्रक्रिया के प्रत्येक अवस्थान पर वहाँ से आगे बढने के लिए एक उपयुक्त नीति होती है। जो नीति किसी एक अवस्थान के लिए सही होती है, वह किसी दूसरे अवस्थान के लिए गलत होती है।

प्रारम्भिक अवस्थानों में निश्चय ही उसमें सार्वजनिक प्रशासन के विभिन्न अवयवों का निर्माण करना तथा कुछ शिक्षित अल्पसंख्यकों की व्यवस्था करना आवश्यक होता है, ऐसे लोगों का एक अल्प समूह, जो सार्वजनिक प्रशासन की पद्धति का तथा उसमें सम्बन्धित अन्य बातों का निर्माण कर सकें। इसके बाद लोक जागरण का काम आता है। यह जागरण जन-साधारण को आर्थिक क्रियाकलाप में भाग लेने के योग्य बना देता है। और वह लोगों के मस्तिष्कों को नये तरीकों तथा नई शैलियों के ऐसा अनुकूल बना देता है, जैसा वे अन्य किसी तरीके से नहीं बन सकते। सांस्कृतिक पहलू के अतिरिक्त, लोक शिक्षा एक बड़ी अच्छी तथा उपयोगी वस्तु है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि व[illegible] भी है। ऐसा होने के

[illegible]: विवादग्रस्त होते हैं,
[illegible]वास की समस्या पर
[illegible] दिया है।
[illegible]

कारण वह विकास की अभिलाषा को बलवती बना देता है।

यदि विकास को जनता के सहयोग पर आधारित होना है, तो ऐसी किसी व्यवस्था का रहना भी आवश्यक है, जिससे जनता को उसका पुरस्कार मिल सके। जब तक जन-समूह सहयोग नहीं करता, कोई सार्थक प्रगति नहीं हो सकती; और स्वभाव से ही मनुष्य ऐसा नहीं होता कि वह किसी दूसरे की भलाई के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा दे। जिस प्रकार पढ़ाई-लिखाई आर्थिक प्रगति के लिए उपयोगी है, उसी प्रकार सामाजिक न्याय भी।

इस प्रक्रिया के आगे के अवस्थाओं पर बढ़ने पर अन्य आवश्यकताएँ सामने आती हैं, और आबादी तथा प्राकृतिक साधनों के अनुसार, ये विभिन्न देशों के लिए भिन्न होंगी। पूँजी केवल उन्हीं देशों में विकास की कसौटी बन जाती है, उनके मार्ग में एक अनिवार्य वस्तु के रूप में आती है, जो इस विकास प्रक्रिया में काफी आगे बढ़े होते हैं। इस बात की वस्तुतः पूर्ण सम्भावना है कि विकास के प्रारम्भिक अवस्थाओं के देशों को प्रदान की गई पूँजी बरबाद हो जाय। विकास के काफी आगे के सोपान पर ही उसका किसी भी मात्रा में बुद्धिमत्तापूर्ण तथा उपयोगी ढंग से प्रयोग हो सकता है।

श्रेष्ठता, उपलब्ध साधनों का पूर्णतः उपयोग करने की क्षमता, राष्ट्रीय लक्ष्यों की स्पष्टता--जिनकी हमें यहाँ चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।

यदि विकास की इस प्रक्रिया को एक ऐसी पंक्ति के रूप में देखा जाय, जिसमें संसार के विभिन्न देश विकास के अपने विभिन्न अवस्थानों के अनुसार विभिन्न स्थानों पर स्थित दिखलाये गये हों, तो विकास की प्रक्रिया तथा तत्सम्बन्धी नीति दोनों ही बहुत स्पष्ट हो जाएँ।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि हम विकास के लिए एक खास नुस्खे की बात नहीं कर सकते। ऐसा कोई खास फार्मूला (सूत्र) प्रदान करने का प्रयत्न बरबादी, पराजय तथा निराशा ही ला सकता है और इसी प्रकार विकास के किसी अमुक अवस्थान पर पहुँचे हुए किसी अमुक देश के अनुभव के आधार पर किसी अन्य अवस्थान पर पहुँचे हुए किसी अन्य देश की आवश्यकताओं के लिए कोई नियम बना देना भी घातक होगा। अमेरिका के अनुभव के आधार पर भारत की आवश्यकताओं के लिए कोई खास निष्कर्ष निकालना गलत सिद्ध होगा, और ठीक इसी प्रकार भारत के आधार पर दाहोमी या चाड के लिए कोई खास नियम बनाना गलत होगा।

चाहिए। इन प्रारम्भिक अवस्थानों में विकास के समक्ष बंद घेरे की समस्याएँ भी उपस्थित हो जाती है। ऐसा कोई देश, जिसमें सार्वजनिक प्रशासन के अवयव दक्ष नही होते, उन्हे विकसित क्योंकर कर सकता है, क्योंकि दोषपूर्ण सरकार स्वयं-सुधारक नही होती, अपितु वह स्वयं को उसी रूप में बनाये रखने वाली होती है। ऐसा कोई देश, जिसमें कुछ चुने हुए शिक्षित लोग नही होते, उन्हें क्योंकर उत्पन्न करे, क्योकि शिक्षा-प्रसार के लिए शिक्षित लोगों की आवश्यकता होती है। समाज-सुधार क्योंकर किया जाय, जब वर्ग का ढांचा ही ऐसा हो कि वह राजनैतिक सत्ता ऐसे लोगों के हाथ में दे देवे, जो संभवत: उसका विरोध करें? ये बड़े ही जटिल प्रश्न हैं, यद्यपि इतने जटिल नही, जितने वे दीख पड़ते हैं। आखिरकार बहुत-से देश इस घेरे को तोड़कर बाहर आ गए हैं और आधुनिक युग मे विकास करने की इच्छा एक प्रबल स्वतन्त्र शक्ति है, और वह उन लोगों के साथ रच-मात्र भी दया नहीं दिखलाती, जो अपने निहित स्वार्थों के लिए उसके मार्ग में बाधा के रूप में आते है। कुछ भी हो, जिन लोगों को विकास की चिन्ता है, वे इन बाधाओं को यह मानकर नही दूर कर सकते कि वे तो हैं ही नही।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, ऐसे देशों में, जो ये प्रारम्भिक समस्यायें हल कर चुके हैं, पूंजी तथा शिल्प-ज्ञान बाधा के रूप में आ जाते हैं। भारत की पूंजी की वर्तमान आवश्यकता विकास स्तर पर आधारित नहीं है। अन्य नये राष्ट्रों की तुलना के उसके उच्चतर स्तर का ही परिणाम है कि वह प्रभावोत्पादक ढंग से प्रयोग कर सकता है,

अवस्थान पर हो, जहाँ यह सोचना पड़ता है कि अल्प मात्रा में उपलब्ध पूँजी का किस प्रकार अच्छे से अच्छा प्रयोग किया जाए, तथा जहाँ पूँजी के विभिन्न उपयोगों का एक कड़ी में जोड़ना और एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार निर्दिष्ट करना आवश्यक होता है, नियोजन कार्य बड़ा जटिल हो जाता है। इससे बढ़कर और कोई गलती नहीं होगी, यदि हम यह सोचें कि जिस प्रकार की योजनाएँ भारत या पाकिस्तान में बनी हैं, उसी प्रकार की योजनाएँ विकास के सभी अवस्थानों पर पहुँचे हुए देशों के लिए भी आवश्यक हैं। प्रारंभिक अवस्थानों पर न तो वह आवश्यक ही हैं और न संभव ही।

2

विकासोन्मुख तथा विकसित

मैंने पिछले अध्याय में कहा है कि विकासोन्मुख देशों की तुलना एक पंक्ति मे क्रमिक रूप से खड़े हुए व्यक्तियों से की जा सकती है। इन देशों की इस पंक्ति में जो देश आगे थे, उनकी स्थिति बड़ी सुविधापूर्ण थी। अग्रणी राष्ट्र—ब्रिटेन, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका—अपनी उपलब्धियों का मूल्यांकन, जैसी भी वे थी, उसीके आधार पर कर सकते थे। उन्होंने जो कुछ भी प्राप्त किया, उस पर वे सन्तोष प्रकट कर सकते थे; क्योंकि किसी अन्य ने उनकी अपेक्षा अच्छा नही किया था। उन्नीसवीं शताब्दी मे सारा ब्रिटेन अपनी उपलब्धियों पर इठला रहा था। यही बात बीसवीं शताब्दी में अमेरिका के सम्बन्ध में आज भी कही जा सकती है। इसके विपरीत, जो देश इस शृंखला में बाद को ए मक्ष ऊँचे तथा दुष्प्राप्य मापदण्ड मिले, जो स्वयं रित नही हुए थे। उन्हें प्रत्येक क़दम पर अपनी नना करनी पड़ती है—अमेरिकी या रूसी ों से तुलना करनी पड़ती है, अमेरिकी या . से तुलना करनी पड़ती है।

एक और असुविधापूर्ण बात है। मानव व्यापार की अत्यन्त दोषपूर्ण व्यवस्था में विकास ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, उसकी प्रगति अपेक्षाकृत आसान होती चली जाती है। ऐसा इसलिए है कि इस प्रक्रिया में प्रत्येक कदम अगले कदम को अनिवार्यतः आसान बना देता है। सार्वजनिक प्रशासन में यदि कुछ दक्ष तथा कुशल व्यक्ति न हों, तो किसी को भी विकसित करना कठिन हो जाय। परन्तु, यदि कुछ अच्छे लोग हों, जो दूसरों को भी प्रशिक्षित कर सकें तो शीघ्र ही इसका विस्तार हो सकता है। यदि कोई शिक्षक न हो तो किसी भी शिक्षा-पद्धति का आरम्भ करना कठिन हो जाय। परन्तु यदि थोड़े-से भी अच्छे शिक्षक हों तो वे दूसरों को भी प्रशिक्षित कर सकते हैं और इस प्रकार यदि बहुत-से शिक्षक हो जाएँ, तो प्रशिक्षण की प्रक्रिया आसान तथा लगभग स्वचालित हो जाती है। बचत करना तथा पूँजी एकत्र करना किसी गरीब देश में, जहाँ वर्तमान आवश्यकताओं का दबाव बहुत अधिक होता है, अत्यन्त कठिन है। परन्तु किसी अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध समुदाय में बचत करना बहुत आसान है। और किसी धनाढ्य देश में तो बचत प्रचुर मात्रा में हो सकती है।

इस व्यवस्था का परिणाम यह है कि अपेक्षाकृत अधिक विकसित देश अपने से पिछड़े हुए देशों पर प्राप्त अपनी सुविधा को लगातार बढ़ाते जा रहे हैं। कभी-कभी तो वे इन पिछड़े हुए देशों को ही उनकी धीमी प्रगति के लिए दोषी ठहराते हैं। और इन बेचारे पिछड़े हुए देशों के लिए प्रगति बहुधा ही निराशाजनक लगती है। क्या ही अच्छा होता, यदि हम सभी यह अनु-

2

विकासोन्मुख तथा विकसित

मैंने पिछले अध्याय में कहा है कि विकासोन्मुख देशों की तुलना एक पंक्ति में क्रमिक रूप से खड़े हुए व्यक्तियों से की जा सकती है। इन देशों की इस पंक्ति में जो देश आगे थे, उनकी स्थिति बड़ी सुविधापूर्ण थी। अग्रणी राष्ट्र—ब्रिटेन, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका—अपनी उपलब्धियों का मूल्यांकन, जैसी भी वे थी, उसीके आधार पर कर सकते थे। उन्होंने जो कुछ भी प्राप्त किया, उस पर वे सन्तोष प्रकट कर सकते थे; क्योंकि किसी अन्य ने उनकी अपेक्षा अच्छा नहीं किया था। उन्नीसवीं शताब्दी में सारा ब्रिटेन अपनी उपलब्धियों पर इठला रहा था। यही बात बीसवी शताब्दी में अमेरिका के सम्बन्ध मे आज भी कही जा सकती है। इसके विपरीत, जो देश इस शृंखला में बाद को आए, उनके समक्ष ऊँचे तथा दुष्प्राप्य मापदण्ड मिले, जो स्वयं उनके द्वारा निर्धारित नही हुए थे। उन्हें प्रत्येक क़दम पर अपनी उपलब्धियों की तुलना करनी पड़ती है—अमेरिकी या रूसी उत्पादन सफलताओं से तुलना करनी पड़ती है, अमेरिकी या ब्रिटिश जीवन स्तरों से तुलना करनी पड़ती है।

एक और असुविधापूर्ण बात है। मानव व्यापार की अत्यन्त दोषपूर्ण व्यवस्था मे, विकास ज्यों-ज्यों आगे बढता है, उसकी प्रगति अपेक्षाकृत आसान होती चली जाती है। ऐसा इसलिए है कि इस प्रक्रिया में प्रत्येक कदम अगले कदम को अनिवार्यत: आसान बना देता है। सार्वजनिक प्रशासन में यदि कुछ दक्ष तथा कुशल व्यक्ति न हो, तो किसी को भी विकसित करना कठिन हो जाय। परन्तु, यदि कुछ अच्छे लोग हो, जो दूसरो को भी प्रशिक्षित कर सकें तो शीघ्र ही इसका विस्तार हो सकता है। यदि कोई शिक्षक न हो तो किसी भी शिक्षा-पद्धति का आरम्भ करना कठिन हो जाय। परन्तु यदि थोडे-से भी अच्छे शिक्षक हों तो वे दूसरो को भी प्रशिक्षित कर सकते हैं और इस प्रकार यदि बहुत-से शिक्षक हो जाएँ, तो प्रशिक्षण की प्रक्रिया आसान तथा लगभग स्वचालित हो जाती है। बचत करना तथा पूँजी एकत्र करना किसी गरीब देश मे, जहाँ वर्तमान आवश्यकताओं का दबाव बहुत अधिक होता है, अत्यन्त कठिन है। परन्तु किसी अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध समुदाय में बचत करना बहुत आसान है। और किसी धनाढ्य देश मे तो बचत प्रचुर मात्रा में हो सकती है।

भव कर सकते, कि अपेक्षाकृत हम अनुकूल स्थिति में रहने वाले देशों की प्रगति की चाल अनिवार्यतः इसलिए धीमी नहीं है कि उनके प्रयत्नों में कमी है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उनका कार्य ही अपेक्षाकृत बहुत कठिन है।

. 2 .

यदि हम विश्व के देशों को विकसित तथा अर्द्धविकसित दो स्पष्ट विभाजनों के रूप में न मानकर, उन्हें विकास-क्रम के विभिन्न सोपानों पर पहुँचे हुए मानें, तो सहायता प्रदान करने की समस्या का सही चित्र सामने आ सकता है। क्योंकि विकास को इस दृष्टि से देखने पर हमें पता चलता है कि देशों का कोई भी समूह केवल सहायता देने के लिए ही विशिष्ट रूप से योग्य नहीं है, और न तो दूसरा समूह केवल इस स्थिति में है कि वह सर्वदा सहायता का भिखारी ही हो। सच तो यह है कि प्रत्येक देश को अपने से आगे वाले देशों से कुछ प्राप्त करना होता है। और वह अपने से पीछे वाले देशों को कुछ प्रदान करता है। सहायता की व्यवस्था एक ऐसे सहकारी प्रयत्न के रूप में प्रकट होती है (और उसे उसी रूप में देखना भी चाहिए), जिसमें सभी देश भाग ले सकते हैं।

और यद्यपि इस क्रम का पर्यवेक्षण करने पर यह पता चलता है कि दी जाने वाली सहायताओं तथा प्राप्त करने वाली सहायताओं में अन्तर है, मैं इसे निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि कम विकसित देशों का योग अनिवार्यतः कम ही है। अपेक्षाकृत अधिक विकसित [illegible] के लिए [illegible] देशों की व्यवस्था करता

सहायता का एक खुला हुआ रूप है। परन्तु भारत जैसे देश, जिस ढग से सामान्य शिक्षा, परिवार नियोजन तथा भूमि की चकबन्दी की अपनी समस्याएँ हल कर रहे हैं, वह अनुभव इस क्रम में आने वाले देशों के लिए बड़ा ही मूल्यवान् होगा। मैं तो यहाँ तक कहने का साहस करूँगा कि इन क्षेत्रों मे भारत अमेरिका की अपेक्षा अच्छा शिक्षक हो सकता है। व्यावहारिक रूप मे वह समस्या के बहुत निकट है।

मैं इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप मे दुहराना चाहता हूँ। विश्व को सहायता देने वाले तथा सहायता प्राप्त करने वाले देशों के गुटों मे विभाजित करना गलत तथा मनोवैज्ञानिक रूप से खतरनाक है। देश विकास का कार्य ऐसा है जिसमें अनेक को सहायता की आवश्यकता पड़ती है और उतनी ही संख्या मे सहायता प्रदान करने वाले देश भी होते हैं। अब से हमें इस कार्य को इसी रूप में देखना है।

3.

अब मैं विकासक्रम के विभिन्न अवस्थानों पर पहुँचे हुए विभिन्न देशों के बीच साधनों तथा अनुभव के पारस्परिक आदान-प्रदान के सम्बन्ध में विशेष तौर पर कुछ कहना चाहता हूँ। यदि यह मान लिया जाए कि विभिन्न देश विकास के विभिन्न अवस्थानों पर है, तो इससे अधिक स्वाभाविक क्या होगा कि पिछड़े हुए देश उन देशों से पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा करें जो उनसे आगे बढ़े हुए है। और इससे अधिक वाछनीय भी और कुछ नहीं है कि आगे बढ़े हुए देश अपने मे

सब कर सकें, कि अपेक्षाकृत कम अनुकूल स्थिति में रहने वाले देशों की प्रगति की चाल अनिवार्यतः इसलिए धीमी नहीं है कि उनके प्रयत्नों में कमी है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उनका कार्य ही अपेक्षाकृत बहुत कठिन है।

. 2 .

यदि हम विश्व के देशों को विकसित तथा अर्द्धविकसित दो स्पष्ट विभाजनों के रूप में न मानकर, उन्हें विकास-क्रम के विभिन्न सोपानों पर पहुँचे हुए मानें, तो सहायता प्रदान करने की समस्या का सही चित्र सामने आ सकता है। क्योंकि विकास को इस दृष्टि से देखने पर हमें पता चलता है कि देशों का कोई भी समूह केवल सहायता देने के लिए ही विशिष्ट रूप से योग्य नहीं है, और न तो दूसरा समूह केवल इस स्थिति में है कि वह सर्वदा सहायता का भिखारी ही हो। सच तो यह है कि प्रत्येक देश को अपने से आगे वाले देशों से कुछ प्राप्त करना होता है। और वह अपने से पीछे वाले देशों को कुछ प्रदान करता है। सहायता की व्यवस्था एक ऐसे सहकारी प्रयत्न के रूप में प्रकट होती है (और उसे उसी रूप में देखना भी चाहिए), जिसमें सभी देश भाग ले सकते हैं।

और यद्यपि इस क्रम का पर्यवेक्षण करने पर यह पता
है कि दी जाने वाली सहायताओं तथा प्राप्त करने वा
ताओं में अन्तर है, मैं इसे निश्चित रूप से नहीं कह
कम विकसित देशों का योग अनिवार्यतः कम ही
कृत अधिक विकसित देशों के लिए पूँजी की

भी है।

अचानक ही यह सोचना बड़ा कठिन है कि कोई कम विकसित देश पूंजी की प्रचुरता से क्षतिग्रस्त हो जाए। और जैसाकि मैंने कहा है, विकास के ऊंचे अवस्थानो पर पहुंचे हुए देश कम विकसित देशो की अपेक्षा बड़ी आसानी से पूंजी एकत्र कर लेते हैं। यह एक कारण है कि विकसित तथा कम देशों के बीच रियायती शर्तों पर—बहुत कम या शून्य व्याज की दर पर कालीन-ऋण का लेन-देन सामान्य तथा स्वाभाविक बात समझनी चाहिए। ऐसी किसी आर्थिक सहायता से किसीको अत्यधिक प्रभावित नही हो जाना चाहिए, जो 6½ प्रतिशत व्याज की दर पर इस वर्ष के लिए दिए गए ऋण के रूप में हो। विकास के प्रारम्भिक अवस्थान का कदाचित् ही कोई देश शुद्ध वाणिज्यिक ऋण का मूल्य आसानी से अदा कर सके।

परन्तु निम्न या शून्य व्याज की दर पर दिए गए ऋणों या पूंजी के प्रत्यक्ष अनुदानो मे भी अपनी बुराइयां है। किसी भी मात्रा मे पूंजी के उपयोग करने की क्षमता स्वय विकास का परिणाम है। यदि वह तभी उपलब्ध हो जाए, जब उसके उपयोग करने की अनुकूल स्थिति उपलब्ध न हुई हो, तो वह अप्रभावकारी ढग से उपयोग में लाई जाएगी या सभवत. वह बरबाद हो कर दी जाएगी। यदि विद्युत्-शक्ति तथा परिवहन के साधन किसी प्रशिक्षित, पढ़े-लिखे तथा सामाजिक रूप से जागृत जन-समुदाय (देश) को दिए जाएं तो निश्चित है कि वे उपयोगी सिद्ध होगे। परन्तु यदि ये वस्तुएं किसी ऐसे जन-समुदाय (देश) को प्रदान की जाएं, जो अब भी अज्ञान तथा पिछड़ी हुई सामाजिक

पीछे के देशों को अनुभव तथा उचित सहायता प्रदान करें। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से इस प्रकार के अनुभव तथा साधनों का लेन-देन एक सामान्य बात हो गई है। यह एक ऐसा मामला है जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका काफी आगे रहा है। मैं बराबर ही इस मत का रहा हूँ कि विश्व के राष्ट्रों को दिया जाने वाला यह हमारा सर्वाधिक स्मरणीय योगदान होगा।

परन्तु, विकास-क्रम के विभिन्न अवस्थानों पर पहुँचे हुए देशों के बीच लेन-देन एक ऐसा मामला है, जिसमें बहुत सोच-विचार तथा सही-गलत के पहचान की आवश्यकता है। सही और गलत दोनों ही वस्तुएँ दी और ली जा सकती हैं। दूसरों का अनुभव बुद्धिमानी से अपने लिए उपयोगी बनाया जा सकता है और फिर उससे बड़ा लाभ हो सकता है। और दूसरों की कार्यपद्धति को विवेकहीनता से अपनाया जा सकता है, जिसका परिणाम निश्चित रूप से हानिकारक हो सकता है। इन कठिनाइयों तथा खतरों के बावजूद, द्वितीय महायुद्ध के बाद विकसित होने वाले क्षेत्रों के बीच लेन-देन का अधिकांश कार्य, विशेषकर अनुभव के लेन-देन का कार्य बड़ी लापरवाही से किया गया है, मानो उसमें कोई समस्या ही नहीं है। इसको मैं और भी विवरण सहित समझाता हूँ।

विकास-क्रम में आगे बढ़े हुए किसी देश के पास तीन ऐसी वस्तुएँ होती है जिन्हें उससे पिछड़े हुए देश भी ले सकते हैं। ये है—1. पूंजी, 2. शिल्प-विज्ञान, 3. संघटन। विकास-क्रम के विभिन्न अवस्थानों पर पहुँचे हुए देशों के बीच इनमें से प्रत्येक वस्तु के आदान-प्रदान से लाभ भी हो सकता है और उसमे खतरा

भी है।

वास्तव में यह सोचना बड़ा कठिन है कि कोई कम विकसित देश पूंजी की प्रचुरता से हानिग्रस्त हो जाए। और जैसाकि मैंने कहा है, विकास के ऊँचे अवस्थानों पर पहुँचे हुए देश कम विकसित देशों की अपेक्षा बड़ी आसानी से पूंजी एकत्र कर सकते हैं। यह एक कारण है कि विकसित तथा कम देशों के बीच रियायती शर्तों पर—बहुत कम या शून्य ब्याज की दर पर कालीन-ऋण या लेन-देन सामान्य तथा स्वाभाविक बात समझनी चाहिए। ऐसी किसी आर्थिक सहायता से किसीको अत्यधिक प्रभावित नहीं हो जाना चाहिए, जो 6½ प्रतिशत ब्याज की दर पर दस वर्षों के लिए दिए गए ऋण के रूप में हो। विकास के प्रारम्भिक अवस्थान का कदाचित् ही कोई देश शुद्ध वाणिज्यिक ऋण का मूल्य आसानी से अदा कर सके।

परन्तु निम्न या शून्य ब्याज की दर पर दिए गए ऋणों या पूंजी के प्रत्यक्ष अनुदानों में भी अपनी बुराइयाँ है। किसी भी मात्रा में पूंजी के उपयोग करने की क्षमता स्वयं विकास का परिणाम है। यदि वह तभी उपलब्ध हो जाए, जब उसके उपयोग करने की अनुकूल स्थिति उपलब्ध न हुई हो, तो वह अप्रभावकारी ढंग से उपयोग में लाई जाएगी या सभवत: वह बरबाद ही कर दी

परिवहन के साधन किसी
प से जागृत जन-समुदाय
उपयोगी सिद्ध
(देश) को
सामाजिक

पद्धति में जकड़ा हुआ हो तो उनकी उपयोगिता सन्देहपूर्ण है।

भारत-जैसे देश में भी, जो इस अवस्थान पर पहुँच गया है, जहाँ वह काफी मात्रा में पूँजी का उपयोग कर सकता है, खतरे हैं। सम्भव है कि विदेशों से ऋण लेना विदेशों से धन कमाने के स्थान पर होता हो। विदेशों से धन कमाना दक्षतापूर्ण ढंग से तथा कम मूल्य पर उत्पादन करना है, जो अपेक्षाकृत अधिक विकसित अवस्थानों पर पहुँचे हुए देशों की इस प्रवृत्ति का लाभ उठा सकता है कि वे, कीनेस ने जैसा एक बार कहा था, "ऊँचे मूल्य, ऊँचा जीवन-स्तर" वाले देश बनना चाहते हैं। भारत के किसी भी मित्र को उसके गत पांच वर्षों के अनुत्साहवर्द्धक निर्यात को देखकर चिन्ता ही होगी। औद्योगिकीकरण के लगभग इसी अवस्थान पर जब जापान था, तो उसके पास अपने यहाँ की उत्पादित वस्तुओं को विश्व के बाजारों में येन-केन प्रकारेण भेजने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं था। इस कार्य का उद्देश्य सारे विश्व में लोकप्रियता प्राप्त करना नहीं था। परन्तु इसने उद्योग में लगाने के लिए पूंजी प्रदान की, जिससे उसका आगे भी विकास निश्चित हो गया। इसमे सन्देह है कि कोई भी सहायता, चाहे वह कितनी ही उदार शर्तों पर क्यों न हो, इस प्रकार की अर्जित पूंजी तथा तज्जनित आत्मनिर्भरता एवं आत्मविश्वास का स्थान कभी भी ले सके।

. 4 .

शिल्प-ज्ञान का भी उधार लेना एक टेढ़ा मामला है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह बहुत ही वांछनीय है। विकास-क्रम में

पीछे रहने का एक बडा फायदा यह होता है कि इस प्रकार का देश अपने से आगे वाले देशों द्वारा बडे परिश्रम तथा मूल्य चुकाने के बाद सफलताओं, शिल्प-ज्ञान आदि से लाभ उठा सकता है। परन्तु, यह जानना तो आवश्यक होगा ही कि कोई शिल्प-ज्ञान, कोई सफलता क्यों और किस कारण से प्राप्त की गई। यह किसी प्रक्रिया में अगला कदम था या व्यापक प्रयोग का परिणाम था ? या यह आगे बढे हुए स्वयं आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के प्रति अनुकूलीकरण था ? उन्नत पैदावार वाले मक्के के बीज, धान रोपने की जापानी पद्धति विकसित खादों का प्रयोग, इस्पात उत्पादन का एल-डी तरीका, आदि व्यापक प्रयोग के लिए उपयुक्त प्रणालियां हैं। इनमें सभी साधनों का मितव्ययता से प्रयोग होता है। वे कम तथा अधिक विकसित दोनों ही प्रकार के देशों के लिए अनुकूल तथा महत्वपूर्ण हैं। परन्तु अपेक्षाकृत अधिक विकसित देशों का अधिकांश शिल्पज्ञान मज़दूरों की कमी की पूर्ति करने के लिए तथा अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्था की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए ही प्राप्त किया गया है। रुई धुनने की मशीन तथा आधुनिक कृषि-ट्रैक्टर इस प्रकार के आविष्करण के उदाहरण हैं। अमेरिका के कृषि-फार्मों में उनका प्रयोग यह प्रकट करता है कि वहां मज़दूरों की भारी कमी है। इस प्रकार का शिल्प-ज्ञान उन लोगों को नहीं अपनाना चाहिए, जो विकास के प्रारम्भिक अवस्थानों पर हों। ऐसा करना अल्प साधनों को बरबाद करना है तथा विकास में बाधा डालना है और प्रासंगिक रूप की अपेक्षा बहुत अधिक अप्रासंगिक रूप से बेकारी को बढ़ाना है।

पद्धति से लगाया हुआ हो तो उसकी उपयोगिता संदेहपूर्ण है।

भारत-जैसे देश में भी, जो इस अवस्थान पर पहुँच गया है, जहाँ वह भारी मात्रा में पूँजी का उपयोग कर सकता है, खतरे हैं। सम्भव है कि विदेशों से ऋण लेना विदेशों में धन कमाने के स्थान पर होता हो। विदेशों में धन कमाना दक्षतापूर्ण ढंग से सस्ता कम मूल्य पर उत्पादन करना है, जो औद्योगिक अधिक विकसित अवस्थाओं पर पहुँचे हुए देशों की इस प्रवृत्ति का लाभ उठा सकता है कि वे, कीनेस ने जैसा एक बार कहा था, "ऊँचे मूल्य, ऊँचा जीवन-स्तर" वाले देश बनना चाहते हैं। भारत के किसी भी मित्र को उसके गत तीन वर्षों के अनुत्साहवर्द्धक निर्यात को देखकर चिन्ता ही होगी। औद्योगीकरण के लगभग इसी अवस्थान पर जब जापान था, तो उसके पास अपने यहाँ की उत्पादित वस्तुओं को विश्व के बाजारों में येन-केन प्रकारेण भेजने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं था। इस कार्य का उद्देश्य सारे विश्व में लोकप्रियता प्राप्त करना नहीं था। परन्तु इसने उद्योग में लगाने के लिए पूँजी प्रदान की, जिससे उसका आगे भी विकास निश्चित हो गया। इसमें सन्देह है कि कोई भी सहायता, चाहे वह कितनी ही उदार शर्तों पर क्यों न हो, इस प्रकार की अर्जित पूँजी तथा तज्जनित आत्मनिर्भरता एवं आत्मविश्वास का स्थान कभी भी ले सके।

शिल्प-ज्ञान का
सैद्धान्तिक दृष्टि ?

(ब्रिटिश औद्योगिक नगर) कोई नई अच्छी वस्तु तैयार करता है, वैसे ही सोलिंगन (जर्मन नगर) भी उसी वस्तु को उससे सस्ते प्रतिमान के रूप में तैयार कर देता है। उसके बाद हाल में जापानियों तथा रूसियों की भी इसी प्रकार आलोचना की गई है। परन्तु बाद में आने वाले देशों को किसी बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उन्हें बिना किसी सकोच के उन कार्य-पद्धतियों से लाभ उठाना चाहिए जो उनके पूर्वगामियों ने प्रथम बार निर्धारित की। बाद में पहुँचने के लाभ बहुत कम हैं। परन्तु जो हैं, उनका पूर्णरूपेण उपयोग किया जाना चाहिए।

5

इतना तो मैंने पूंजी तथा शिल्प-ज्ञान उधार लेने के सम्बन्ध में कहा। अब मैं संघटन उधार लेने के सम्बन्ध में कुछ कहूँगा। संघटन से मोटे तौर पर मेरा तात्पर्य सरकार तथा उसकी सेवाओं, और शिक्षा, कल्याण एवं आर्थिक संघटन से है। मेरे विचार से इस क्षेत्र में सबसे अधिक खतरा है। इस प्रकार का उधार लेना अब बड़ी साधारण-सी बात बन गई है। चूँकि कोई विशेष संघटन या सेवा—कोई सरकारी विभाग, शिक्षा संस्था, या कृषि अथवा औद्योगिक सेवा—किसी अधिक विकसित देश में रहती है, यह सोच लिया जाता है कि वह विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। अतः उसे कम विकसित देशों में भी स्थापित किया जाना चाहिए। यह उनके भी विकास में सहायक होगी।

इस प्रकार के तर्क से, यदि इसे तर्क कहा जाय, बहुत-सी ग़लतियों की संभावना है। बहुधा ही, और मैं तो कहूँगा कि

अतः अपेक्षाकृत अधिक विकसित देशों की नकल करना बुद्धिमत्तापूर्ण विकास-आयोजन का लक्षण है। और ऐसा न करना भी बुद्धिमत्तापूर्ण आयोजन का लक्षण है। व्यापक प्रयोग के आविष्करणों तथा केवल विकास के उच्च अवस्थानों के लिए ही उपयुक्त आविष्करणों में, जो मैंने ऊपर भेद बतलाया है, उसका प्रयोग करना आसान नहीं है। परन्तु यदि यह कम-से-कम मान लिया जाए कि विभेदीकरण आवश्यक है, तो उसका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक सम्भव हो सकता है। बहुत दिन की बात नहीं है, एशिया के एक पड़ोसी देश में, जहाँ बेकारी बहुत है और मजदूरों को वेतन बहुत कम मिलते हैं, मैंने रेलवे-क्रॉसिंग पर विदेश से मगाए गए कीमती स्वचालित फाटक लगाए जाते देखा। इस प्रकार की विकसित वस्तुओं का प्रयोग उन देशों में आवश्यक है, जहाँ रेलवे फाटक के सन्तरी का मननपूर्ण जीवन बिताने के लिए अब कोई मिलता ही नहीं। परन्तु उस देश में इस वस्तु की आवश्यकता नहीं थी। जो भेद मैं बता रहा हूँ, उसे यदि और भी स्पष्ट रूप से विचार में रखा गया होता, तो काफी पैसा बच गया होता, और बेचारे फाटक सन्तरी दुआएँ देते हुए अपने पदों पर बने रहे होते।

जहाँ नकल करना उचित हो, वहाँ उसे धड़ल्ले से तथा बिना किसी संकोच के किया जाना चाहिए। अपेक्षाकृत अधिक विकसित देश उनकी सराहना नहीं करेंगे; वे बहुधा ही यह सोचते हैं कि नवागन्तुक का इस प्रकार का व्यवहार उचित नहीं। विगत शताब्दी में अंग्रेजों ने जर्मनों की नकल करने की प्रवृत्ति की बड़े कटु शब्दों में आलोचना की; जैसे ही शेफील्ड

(ब्रिटिश औद्योगिक नगर) कोई नई अच्छी वस्तु तैयार करता है, वैसे ही सोलिंगन (जर्मन नगर) भी उसी वस्तु को उससे सस्ते प्रतिमान के रूप में तैयार कर देता है। उसके बाद हाल मे जापानियों तथा रूसियो की भी इसी प्रकार आलोचना की गई है। परन्तु बाद में आने वाले देशो को किसी बात की चिन्ता नही करनी चाहिए। उन्हे बिना किसी सकोच के उन कार्य-पद्धतियो से लाभ उठाना चाहिए जो उनके पूर्वगामियों ने प्रथम बार निर्धारित की। बाद मे पहुँचने के लाभ बहुत कम हैं। परन्तु जो हैं, उनका पूर्णरूपेण उपयोग किया जाना चाहिए।

. 5

इतना तो मैंने पूंजी तथा शिल्प-ज्ञान उधार लेने के सम्बन्ध मे कहा। अब मैं सघटन उधार लेने के सम्बन्ध मे कुछ कहूँगा। संघटन से मोटे तौर पर मेरा तात्पर्य सरकार तथा उसकी सेवाओं, और शिक्षा, कल्याण एव आर्थिक संघटन से है। मेरे विचार से इस क्षेत्र मे सबसे अधिक खतरा है। इस प्रकार का उधार लेना अब बड़ी साधारण-सी बात बन गई है। चूंकि कोई विशेष संघटन या सेवा—कोई सरकारी विभाग, शिक्षा संस्था, या कृषि अथवा औद्योगिक सेवा—किसी अधिक विकसित देश मे रहती है, यह सोच लिया जाता है कि वह विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। अतः उसे कम विकसित देशों में भी स्थापित किया जाना चाहिए। यह उनके भी विकास मे सहायक होगी।

इस प्रकार के तर्क से, यदि इसे तर्क कहा जाय, बहुत-सी गलतियों की संभावना है। बहुधा ही, और मैं तो कहूँगा कि

सामान्यत: ही, किसी अधिक विकसित देश का संघटन और उसकी सेवाएँ उसके विकास की हेतु नहीं हैं, अपितु परिणाम हैं। वे तो यह दर्शाते हैं कि आगे बढ़े हुए विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल उनकी स्थापना हुई है या विकास के उस स्तर द्वारा ही वे सम्भव हो सके है। बिना सोचे-समझे, अविवेकपूर्ण ढंग से इस प्रकार के सघटन का उधार लेना या देना विकास में सहायक नही होगा, अपितु वह उसमें बाधक होगा। भारत सरकार एक बहुधधी तथा बहुमुखी वस्तु है, जो इस बात की द्योतक है कि भारत ने विकास के अपने अवस्थान में अनेक कार्य करने योजना बना रखी है। किसी नवोदित अफ्रीकी राष्ट्र के लिए, जहाँ अभी काफी दिनो तक सीधे और आसान ही कार्य किए जाने चाहिए, भारत जैसा जटिल, बहुमुखी संघटन भारी दुर्भाग्य की बात होगी। अमेरिका के बहुत-से सरकारी, शिक्षा-सम्बन्धी, कृषि तथा औद्योगिक सघटन अमेरिका के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसलिए विद्यमान हैं कि अपेक्षाकृत बहुत आगे बढ़े हुए विकास के अवस्थान में वे आवश्यक हो जाते हैं या कभी-कभी इसलिए भी कि गैर महत्त्वपूर्ण वस्तु भी रखने में हम अमरीकी समर्थ हैं। यदि उन्हें भारत भेज दिया जाय, तो भारत के लिए भी यह दुर्भाग्य की बात होगी। यदि विशाल पैमाने पर शिक्षा पाठ्यक्रम, विशिष्ट प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ, बहुत आगे बढ़ी हुई कृषि-सेवाएँ तथा विभिन्न प्रकार की अनेक सार्वजनिक सेवाएँ अपने समय से पहले ही चालू कर दी जायें, तो उनमें वे साधन तथा शक्तियाँ लगानी पड़ जाएंगी, जो विकास के लिए निताम्त आवश्यक हैं। इससे लाभ नहीं होगा, उलटे हानि

अवश्य होगी। अब मैं इसे और भी स्पष्ट करता हूँ।

आज से सौ वर्ष पहले अमेरिका में मिसिसिपी के मैदानों के विकास के लिए सर्वप्रथम एक ऐसी भूमि नीति की आवश्यकता थी, जो भूमि का बन्दोबस्त कर दे और उसे कृषि योग्य बना दे तथा एक ऐसी परिवहन प्रणाली स्थापित हो, जिसके अंतर्गत अनाज आदि बाजारों में पहुँच सके। इसके लिए सरकार ने भूमि का सर्वेक्षण किया, ऐसे सभी व्यक्तियों को उसने 160 एकड़ भूमि दे दी, जिन्होंने कुछ महीनों तक उस पर खेती करके अपनी नेक-नीयती सिद्ध कर दी थी; उसने नई रेल लाइनें चालू करने में भी सहायता की। इन प्रारम्भिक आवश्यकताओं की व्यवस्था हो जाने के बाद विकास द्रुत गति से आगे बढ़ा। निस्सन्देह यह हमारा सौभाग्य था कि उस समय तक सामुदायिक शिक्षा विशेषज्ञ, अनाज बिक्री के विश्लेषणकर्ता, घर के सम्बन्ध में सलाह देने वाले लोग, व्यवसाय-सम्बन्धी परामर्शक, सचारण विशेषज्ञ या जन-सुरक्षा परामर्शक आदि अवतरित नहीं हुए थे। यदि ये रहे होते तो भूमि का बन्दोबस्त करने तथा रेल लाइन चालू करने के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य से लोगों का ध्यान हट गया होता। और ये लोग जनता पर एक भार हो गए होते, जो इन्हें ढोने में समर्थ नहीं थी।

आज अमेरिका में इन विस्तृत सेवाओं का भार आसानी से वहन किया जा सकता है और हमारे विकास की वर्तमान स्थिति में [illegible] बना [illegible] है। यदि उन्हें अमेरिका [illegible] बेकार और यहाँ [illegible] में आदिम

विकास के उसी अवस्थान पर हुए होते।

जो लोग संगठन तथा सेवाओं का एक देश से दूसरे देश में स्थानान्तरण चाहते हैं, उन्हीं पर इनकी उपयोगिता सिद्ध करने का दायित्व रहना चाहिए। जितना हम सोचते हैं, उससे कहीं अधिक यह नाजुक मामला है। यह हम लोगों के लिए, जो उधार देते हैं, उतनी ही बड़ी चेतावनी है, जितनी इन लोगों के लिए, जो उधार लेते हैं और शायद उससे भी ज्यादा।

. 6 .

ऊपर मैंने उन बातों के सम्बन्ध में कहा है जिन्हें मैं विभिन्न राष्ट्रों को दृष्टि में रखने पर विकास समस्या के सम्बन्ध में बड़ी गलत धारणाएँ समझता हूँ। इन गलत धारणाओं को अनुभव के आधार पर अब हम सुधार सकते हैं। हमें इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अब तक गलतियाँ क्यों हुई हैं। दरिद्रता तथा पिछड़ेपन को दूर करने के भारी प्रयत्न में जुट पड़ना एक बहुत ही कठिन काम है। इन्हें आसान बनाना आवश्यक था; और शायद यह अनिवार्य था कि आवश्यकता से अधिक आसान बनाने में गलतियाँ हो जाएँ। कार्य स्थगित कर देना तथा समस्या के सही रूप में आने की प्रतीक्षा करना और भी बड़ी ग़लती हुई होती; क्योंकि यदि हम इन पिछले वर्षों के अपने अनुभव से सीखे न होते, तो इस समय हम इतने चतुर न बने होते। और अनुभव काफ़ी कुछ सिखाता है, यद्यपि, जैसा कि विख्यात लेखक आस्कर वाइल्ड ने एक बार कहा था, वह हमारी गलतियों का ही हमारे ही द्वारा दिया हुआ एक दूसरा नाम है।

3

विकास नियोजन का सिद्धान्त

आजकल आर्थिक तथा राजनीतिक विवादों में जितना 'नियोजन' शब्द का सिर्फ फैशन के लिए प्रयोग होता है, उतना शायद ही अन्य किसी शब्द का होता हो या यों कहिये, जितना कम सही प्रयोग उसका होता है, उतना शायद ही अन्य किसी शब्द का। शब्द का ठीक न प्रयोग करना सन् 1940–50 वाले दशक के प्रारम्भ मे विख्यात ब्रिटिश सैनिक तथा दार्शनिक कर्नल ब्लिम्प द्वारा बड़े ही अच्छे ढग से दरसाया गया था, जो युद्धोपरान्त आर्थिक प्रगति के लिए वर्तमान विश्वव्यापी चिन्ता पर ध्यान देते हुए यह कहते हुए सुने गए थे . "यह सब नियोजन आदि केवल सर्वनाश ही ला सकता है। परन्तु सर्वनाश के सम्बन्ध मे एक बात आप कह सकते हैं; वह अबाध उद्योग के लिए वास्तविक कार्यक्षेत्र प्रदान करता है।"

इस गलत बोध का मुकाबला बहुत दिनो तक वे भावनाएँ भी करती रही, जिन्हे 'नियोजन' शब्द ने उभाड़ दिया था। कुछ लोग तो नियोजन को प्रगति के लिए अनिवार्य मानते थे। औरों के लिए यह बुराई का मूल था। बहुत-से संघटन तथा राजनीतिक

दल नियोजन का प्रतिपादन करने के लिए ही उत्पन्न हुए। कुछ अन्य उसका विरोध करने के लिए स्थापित हुए। द्वितीय महा-युद्ध की समाप्ति के थोड़े ही दिन बाद संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के कुछ विद्वान एक ऐसा संघटन स्थापित करने के लिए स्विट्ज़रलैंड के एक पर्वत शिखर पर एकत्र हुए, जिसका लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नियोजन का विरोध करना हो। यह संघटन अपने उद्देश्य में बहुत आगे नहीं बढ़ सका, जिसका एक कारण, जैसाकि मुझे बतलाया गया है, यह था कि लोगों में इस बात पर सैद्धांतिक मतभेद हो गया कि आया जहाजी बेड़े सरकारी सम्पत्ति हों या पट्टा-किराया के आधार पर वे गैर-सरकारी क्षेत्र द्वारा प्रदान किये जाएँ।

. २ .

सच तो यह है कि नियोजन के सम्बन्ध में ग़लत धारणा काफी हद तक सुधारी जा सकती है। और जब हाल में लोग उसके वास्तविक अर्थ को अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझने लगे हैं, तो विवाद का भावना-प्रधान अंश बहुत कुछ समाप्त हो गया है। आधुनिक तथा विकसित अर्थ-व्यवस्था में निश्चित रूप से यह स्थिर करना पड़ता है कि साधनों—श्रम, भूमि, पूँजी, प्राकृतिक साधनों—का किस प्रकार समन्वय किया जाए कि वे उपयोगी सिद्ध हों। यह कार्य या उसका अधिकांश, मुक्त बाजार-व्यवस्था को सौंपा जा सकता है। इससे यह होगा कि ऊँची कीमतों तथा ऊँची कमाई की आशा के माध्यम द्वारा उपभोक्ता की आवश्यकताएँ उत्पादक को ज्ञात हो जाएँगी। मुक्त बाज़ार-व्यवस्था बचत को

व्यापार में लगाने का कार्य, मजदूरों की भरती तथा उत्पादन उपक्रम का, जो आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करता है, संघटन प्रारम्भ कर देती है।

इसके स्थान पर साधनों का एक बहुत सीमित संघटन भी हो सकता है। इसके अन्तर्गत जो कार्य करने होते हैं, तथा जिन वस्तुओं का उत्पादन करना होता है, उनके सम्बन्ध में निश्चित लक्ष्य निर्धारित कर दिए जाते हैं। फिर सरकार इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक अधिकार प्राप्त करती है। किसी-न-किसी तरह वह यह निश्चित कर लेती है कि श्रम, पूंजी तथा अन्य साधनों का उपयोग निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक या उनके अनुकूल होगा। फिर वह ऐसे संघटन स्थापित करती है तथा अपने निर्देशन में उन्हें चलाती है जो माल तैयार करते हैं।

इस दूसरी बात के सम्बन्ध में कुछ और कहना आवश्यक है। नियोजन के सिद्धान्त का आविर्भाव भी समाजवाद के सिद्धान्त के साथ ही बहुत कुछ मिले-जुले रूप में ही हुआ, जो एक विशेष कारण है कि इतने दिनों तक गैर-समाजवादी क्षेत्रों में लोग 'नियोजन' शब्द पर नाक-भौं सिकोड़ते रहे। समाजवादी सिद्धान्त ने स्वभावतः प्राकृतिक साधनों तथा पूंजी, कारखानों एवं भूमि, कुछ राजनीतिक आवश्यकताओं के अधीन रहते हुए, भी सार्वजनिक स्वामित्व पर बड़ा बल दिया। यह इसलिए आवश्यक समझा गया कि लोगों का शोषण न हो सके, लोगों को सामाजिक न्याय मिल सके तथा राजनीतिक सत्ता पूंजीपतियों द्वारा हथिया न ली जाए। नियोजन में आधुनिक अर्थतन्त्र के विकास के साथ ही साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व [illegible]

श्रण उनके नियोजित प्रयोग के लिए आवश्यक तथा यथेष्ट भी समझा जाने लगा। यदि सार्वजनिक स्वामित्व रहेगा तो नियोजन हो सकता है, और बिना सार्वजनिक स्वामित्व के प्रभावकारी नियोजन हो ही नहीं सकता।

वस्तुतः, जैसा कि समाज-विज्ञानों के सम्बन्ध में बहुधा ही होता है, हमारे समक्ष जो विभिन्नताएँ हैं, वे इतनी गहरी नहीं हैं, जितनी दिन-प्रति-दिन के विवाद, विचार-विमर्श में वे बतलाई जाती हैं। उन देशों में, जो मुक्त बाजार-व्यवस्था पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं, ऐसा होने के बावजूद, एक काफी बड़ा क्षेत्र ऐसा होता है, जिनमें साधनों का संघटन सरकार द्वारा किया जाता है। यदि हम सभी वर्तमान साधनों के—समूचा राष्ट्रीय उत्पादन—जो सरकार द्वारा पूर्णतः नियंत्रित तथा व्यवस्थित हैं, अनुपात को नियोजन की मात्रा का मापदण्ड मान लें, तो हम यह देखेंगे कि अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था का लगभग 20 प्रतिशत नियोजित होता है। भारत के मामले में यह 13·14 प्रतिशत ही होगी। अमेरिका की बाजार (मुक्त, गैर-समाजवादी) अर्थ-व्यवस्था में भारत की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र है। और यह चालू रह सकता है। रूस में, जबकि उत्पादन के सभी साधनों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण है, मजदूरों तथा मालिकों को बड़ी बुद्धिमत्ता से धन-सम्बन्धी बहुत-से प्रोत्साहन प्रदान किए जाते हैं। निजी तौर पर उत्पादित कृषि-सामग्रियों का भारी मात्रा में क्रय-विक्रय भी होता है। पोलैण्ड तथा युगोस्लाविया में भी सामान्य तौर पर कृषि मुक्त बाजार-व्यवस्था के ही अधीन है।

कुछ सप्ताह पहले राष्ट्रपति केनेडी ने मनुष्य को चन्द्रलोक तक भेजने के लिए सुनिश्चित अनेक उपायों में से पहले उपाय की घोषणा की। अपने अधिकांश देशवासियों की भाँति, और मेरा ख्याल है अन्य देशों की भी अधिकांश जनता की भाँति, मैं इस साहसिक कार्य के प्रति थोड़ा कुतूहल अनुभव करने लगा हूँ। परन्तु यह एक ऐसी यात्रा नहीं है, जो शीघ्र ही इस आधार पर चालू हो जाए कि पैसा दीजिए, टिकट कटाइए और रवाना हो जाइए। प्रारम्भ में एक टिकट का मूल्य कई अरब डालर होगा, जो किसी सामान्य यात्री की शक्ति से परे है। इसलिए यह कार्य निजी व्यापार-क्षेत्र के मत्थे नहीं छोड़ा जा सकता, वह तो केवल नियोजन से ही हो सकता है। अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था के नियोजित क्षेत्र में ही आणविक शक्ति का भी उत्पादन हुआ और उसीके द्वारा आधुनिकतम विद्युत्-विज्ञान भी विकसित हुआ। इसी प्रकार आधुनिक जेट विमान भी नियोजित विकास का ही परिणाम है, जो सैनिक सामान जुटाने की प्रक्रिया में एक उप-उत्पादन के रूप में आया। गैर-नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं में गत कुछ वर्षों में जो अन्य मशीन-सम्बन्धी आविष्कार हुए हैं, उनमें बहुतों का प्रादुर्भाव इसी प्रकार हुआ है। नियोजन में, सार्वजनिक स्वामित्व न रहते हुए भी, सार्वजनिक प्रेरक प्रतिभा उपलब्ध रहती है। अब दोनों का अटूट सम्बन्ध नहीं रह गया है।

. 3 .

मेरा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि नियोजित तथा गैर-

अण उनके नियोजित प्रयोग के लिए आवश्यक तथा यथेष्ट भी समझा जाने लगा। यदि सार्वजनिक स्वामित्व रहेगा तो नियोजन हो सकता है, और बिना सार्वजनिक स्वामित्व के प्रभावकारी नियोजन हो ही नहीं सकता।

वस्तुतः, जैसा कि समाज-विज्ञानों के सम्बन्ध में बहुधा ही होता है, हमारे समक्ष जो विभिन्नताएँ हैं, वे इतनी गहरी नहीं हैं, जितनी दिन-प्रति-दिन के विवाद, विचार-विमर्श में वे बतलाई जाती हैं। उन देशों में, जो मुक्त बाजार-व्यवस्था पर बहुत अधिक निर्भर करते है, ऐसा होने के बावजूद, एक काफी बड़ा क्षेत्र ऐसा होता है, जिनमें साधनों का संघटन सरकार द्वारा किया जाता है। यदि हम सभी वर्तमान साधनों के—समूचा राष्ट्रीय उत्पादन—जो सरकार द्वारा पूर्णतः नियंत्रित तथा व्यवस्थित है, अनुपात को नियोजन की मात्रा का मापदण्ड मान लें, तो हम यह देखेंगे कि अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था का लगभग 20 प्रतिशत नियोजित होता है। भारत के मामले में यह 13-14 प्रतिशत ही होगी। अमेरिका की बाजारू (मुक्त, गैर-समाजवादी) अर्थ-व्यवस्था में भारत की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र है। और यह चालू रह सकता है। रूस मे, जबकि उत्पादन के सभी साधनों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण है, मजदूरों तथा मालिकों को बड़ी बुद्धिमत्ता धन-सम्बन्धी बहुत-से प्रोत्साहन प्रदान किए जाते हैं। तौर पर उत्पादित कृषि-सामग्रियों का काफी मात्रा विनय भी होता है। पोलैण्ड तथा यूगोस्लाविया में भी तौर पर कृषि मुक्त बाजार-व्यवस्था के ही अधीन

खड़ा कर सकता है। इन सबसे भी महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि निजी व्यापार-क्षेत्र उन देशों में ऐसा करता है, जहाँ विकास पिछड़ गया है और जहाँ विकास की न केवल आवश्यकता है, अपितु यह परमावश्यक है कि वह शीघ्र हो। निजी व्यापार-क्षेत्र पर विश्वास करना यह अवांछनीय खतरा मोल लेना है कि या तो कुछ नहीं होगा या होगा भी तो बहुत थोड़ा।

यही कारण है कि किसी विकासोन्मुख देश में नियोजन शब्द अब विवाद से परे हो गया है। पंचवर्षीय योजनाओं का आविष्कार सोवियत संघ ने किया है और एक समय था कि ये केवल सोवियत संघ में ही थी। अब अमरीकी तथा पश्चिमी यूरोप के लोग बिना कुछ सोचे-समझे यह विचार करने एकत्र हो जाते हैं कि वे भारत या पाकिस्तान की पंचवर्षीय योजनाओं में किस प्रकार वित्तीय सहायता प्रदान कर सकते हैं। ऐसे देश के सम्बन्ध में, जिसके सामने कोई लक्ष्य नहीं होते तथा इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कोई निश्चित योजना नहीं होती, सामान्य धारणा यह होती है कि यह बिल्कुल प्रगति नहीं कर सकता। सम्भवतः यह सही भी है।

4.

चूँकि नियोजन को अब हमने एक तथ्य मान लिया है, हाल के वर्षों में उसके तरीकों में जो नये-नये विकास हुए हैं, उनके सम्बन्ध में हम उतनी छानबीन नहीं करते जितनी करनी चाहिए। पिछले दशक में मुझे इस प्रकार की अनेक योजनाओं की जाँच

करने का अवसर मिला है। और आगे की दुनिया में मुझे जवाबदेह के रूप में अनेक वर्षों तक रहना पड़ेगा जहां अपने पापों का उत्तर देने के लिए बहुत-से लोग पहले से ही हैं और जहां के सम्बन्ध में यह विदित है कि अर्थशास्त्रियों को उन सभी परामर्शों के लिए उत्तर देना पड़ता है, जो वे अपनी सरकारों को दिए रहते हैं। मुझे यह विश्वास हो गया है कि यह सोचना भारी ग़लती होगी कि नियोजन के सिद्धान्त और व्यवहार निष्पन्न भित्तियाँ हैं।

ऊपर मैं इस बात पर बल दे चुका हूँ कि हमें नियोजन-सम्बन्धी अपने कार्यक्रम किसी देश विशेष के विकास अवस्थान को ध्यान में रखकर ही निर्धारित करने चाहिएँ। विकास के प्रारम्भिक अवस्थानों में कोई योजना बनाना आर्थिक नियोजन के लिए बिलकुल ही उपयुक्त कार्य नहीं है। उसके लिए तो आधारभूत प्रशासकीय अवयवों का निर्माण करना, शैक्षिक तथा आधारभूत सांस्कृतिक ढाँचे का विकास करना तथा एक स्थायी और प्रगतिशील सामाजिक पद्धति का निर्माण करना उपयुक्त कार्य हैं। पश्चिमी यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में, फ्रांसीसी तथा अमरीकी [illegible] के बाद जो इस प्रकार के कार्य किए गए, उनसे आर्थिक [illegible] ीव ५ [illegible] ५ ने अपने [illegible] विदेशी [illegible]

कदम आवश्यक समझे गए।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विकास के प्रारम्भिक अवस्थानों में उत्पादन-लक्ष्य स्थिर करना तथा पूंजी लगाने के सम्बन्ध मे योजना बनाना प्रथम कर्तव्य नही है। उलटे, आवश्यक यह है कि इस विकास के लिए प्रशासकीय, सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी पक्की नीव डाली जाए। आगे चलकर ही पूंजी लगाने के सम्बन्ध में कोई विस्तृत योजना बनाना उचित है। इस प्रकार का नियोजन, जैसा कि भारत तथा पाकिस्तान में हो रहा है, विकास के अपेक्षाकृत बढ़े हुए अवस्थानो में होना चाहिए। अब मैं इस प्रकार के नियोजन के सम्बन्ध मे कुछ कहूँगा।

. 5 .

आजकल की आदर्श विकास योजना पूंजी लगाने की ही योजना है। इनमे ये निर्णय व्यक्त किए हुए रहते हैं कि अल्प पूंजी-साधनो का अच्छा-से-अच्छा उपयोग क्योंकर किया जाए। इसका मुख्य लक्ष्य वह वस्तु प्राप्त करना होता है, जिसके सम्बन्ध में यह मान लिया जाता है कि पूंजी द्वारा वह प्राप्त हो सकती है, अर्थात् आर्थिक विकास की एक निश्चित तथा अनुमानत. सन्तोषजनक गति। इस प्रकार के नियोजन मे इस बात पर

... के विभिन्न अगों में ताल

... अनुसार आगे-पीछे आवें।

... कि जिस प्रकार के

... उसी मात्रा में

तथा उसी प्रकार का इस्पात तैयार होने और यह कि आवश्यकता तथा पूर्ति के बीच यह संतुलन बराबर बना रहे। आर्थिक साधनों की पूर्ति के सम्बन्ध में भी उतना ही ध्यान रखा जाता है, अर्थात् इस प्रश्न पर कि देशी और विदेशी दोनों ही पूँजी कहाँ से आएँगी। नियोजन का यह कार्य जिस ढंग से किया जाता है, उसके सम्बन्ध में, कम-से-कम सिद्धान्ततः तो कोई दोष नहीं जान पड़ता। परन्तु कुछ अन्य ऐसी चीजें हैं, जिनकी व्यवस्था तो किसी भी अच्छी योजना को करनी ही चाहिए, और इनकी महत्ता सर्वदा वाछनीय स्पष्टता से नहीं समझी जाती। अब मैं किसी अच्छी योजना की तीन बातों की चर्चा करता हूँ, जो इनके अतिरिक्त हैं तथा जो बहुधा ही गायब रहती है।

पहले तो किसी भी अच्छी योजना मे आर्थिक प्रगति के लिए एक विशेष विधि की व्यवस्था रहनी चाहिए। इस प्रकार की विधि में कुछ बातें तो परमावश्यक हैं, अर्थात् उपयोगी या अनावश्यक से भिन्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण। कहा जाता है कि स्वर्ग-दूतों के गुणों पर कोई ध्यान ही नहीं देता। इसी प्रकार यदि प्रत्येक वस्तु को महत्त्वपूर्ण समझा जाएगा तो वास्तव मे जो महत्त्वपूर्ण है, उस पर कोई ध्यान ही नहीं देगा। उदाहरण के लिए, किसी औद्योगीकृत देश में एक अत्यन्त कुशल परिवहन व्यवस्था, कम कीमत पर, इस्पात का उत्पादन तथा कम ही कीमत पर एवं विश्वसनीय विद्युत् शक्ति का साधन अनिवार्य वस्तुएँ हैं। इनके रहने पर यह निश्चित है कि कुछ-न-कुछ प्रगति अवश्य होगी; इनके न रहने पर हम उतना निश्चित नहीं हो सकते। औद्योगिकीकरण के कुछ अन्य पहलू उतने

नही है, भले ही वे अनावश्यक न हो। इसी प्रकार, कृषि मे बहुत सी बातें उपयोगी भले ही हो, परन्तु कुछ बातें तो अनिवार्य होती हैं। पानी, खाद तथा उन्नत बीज कृषि में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकते है। कृषि-सम्बन्धी अधिकाश अन्य बातें थोड़ा-बहुत परिवर्तन ला सकती है।

इन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातों के विरुद्ध भिन्न-भिन्न व्यक्तियो, विभिन्न विभागों तथा विभिन्न क्षेत्रो का यह दबाव काम करता रहता है कि उनके मनोवाछित उपक्रम आधुनिक योजना मे सम्मिलित कर लिए जाएँ। यह दबाव बहुत भारी होता है। यह इच्छा भी उत्कट रहती है कि कोई बात छूट न जाय। इस प्रकार योजना योजना नही रह जाती, अपितु उन सारी बातों की मात्र एक सूची हो जाती है, जिन्हे प्रत्येक व्यक्ति पूरा किया चाहता है या कोई भी सोचता है कि उन्हे कर लेना चाहिए। महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की बातो का निश्चित रूप मे निर्धारण करना रह ही जाता है।

स्वतन्त्रता के पहले, अमरीकी उपनिवेशों में तथा गणराज्य स्थापित हो जाने के बाद भी प्रारम्भिक वर्षों मे वहाँ खाद्यान्नो का कोई बाहुल्य नही था। पर्वतो तथा सागर के बीच की भूमि सीमित थी और वह सभी जगह उपजाऊ नहीं थी। कभी-कभी खाद्यानों तथा मवेशियों के लिए चारे की माँग उत्पादन-क्षमता से अधिक हो जाती थी और खाद्यान्न यूरोप से मगाने पड़ते थे। प्रारम्भिक अमरीकी कृषि के लिए आधुनिक तरीके पर बनी हुई किसी योजना मे कृषि कॉलेजों, विस्तार सेवाओं, पशु सेवाओं, पौधों के प्रजनन, अच्छी हाट-व्यवस्था, कीटों की रोकथाम तथा

अतिरिक्त भाण्डार के रखने की व्यवस्था पर बल देना पड़ता। निस्सन्देह किसी अच्छी परिवहन-व्यवस्था की आवश्यकता की भी चर्चा की गई होती। परन्तु अन्य अच्छी तथा उपयोगी बातों की तुलना में इसकी आसानी से उपेक्षा की जा सकती थी। सन् 1825 ई० में न्यूयार्क राज्य ने एक नहर खोली, जिसने पश्चिमी प्रदेश के अन्ध इलाके को आबादी वाले भाग से मिला दिया। नहर बनते ही खाद्य की कमी समाप्त हो गई और मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि फिर ऐसा कभी नहीं हुआ। यह नहर उस योजना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। सर्वाधिक महत्त्व की चीजों को चुनने तथा उन पर बल देने का महत्त्व आज के किसी विकासोन्मुख देश में उतना ही है।

. 6 .

किसी अच्छी योजना की दूसरी आवश्यकता यह है कि वह औद्योगिक सफलता के दृश्य तथा अदृश्य दोनों ही पहलुओं पर बल दे। किसी आधुनिक औद्योगिक समाज का वृहत्तर भाग, पानी में तैरने वाले एक हिमशैल की भाँति, दृष्टि से ओझल ही रहता है। और, हिमशैल ही की भाँति, उसके अदृश्य भाग में ही किसी जहाज़ में टक्कर मारकर उसे डुबोने की अधिक क्षमता होती है। बड़ी-बड़ी मशीनों के कारखाने तैयार करना तथा बड़े-बड़े उद्योग खड़े करना, जैसे इस्पात के कारखाने, रेल लाइनें, कोयले की खानें, वायुयान, तेलशोधक यन्त्र आदि विकास-योजना की दृश्य सफलता है। और यह देखना कि इन सब कारखानों, उद्योगों [illegible]

यह देखना कि व्यवस्था विभाग किसी पर आश्रित नहीं है और दक्ष है, कि फलत. उत्पादन सामग्रियो के मूल्य कम हैं तथा कारखाने के नवीनीकरण एव विस्तार के लिए पर्याप्त कमाई हो रही है—समूचे कार्य का बृहत्तर भाग है। यह भाग सतह से नीचे रहता है, और इतना ही काफी नही है कि विकासोन्मुख देश केवल इन्ही बातो मे परिपूर्ण हो। उसे अपेक्षाकृत आगे बढ़े हुए अपने प्रतियोगियों से अधिक उत्पादनशील होना चाहिए। कम उत्पादन तथा दक्षतापूर्ण उत्पादन द्वारा ही जर्मनी और जापान औद्योगिक दुनिया मे अपने से आगे हुए देशो की समता मे आगे बढ गए। इजरायल तथा यूगोस्लाविया जैसे नये औद्योगिक देश भी इसी तरीके से आगे बढने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी तरीके से ही और भी आगे बढने के लिए देशी और विदेशी दोनो ही पूँजी अर्जित की जाती हैं।

मैं इसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानता हूँ कि आधुनिक योजनाएँ इस उद्देश्य सफलता के लिए पक्के लक्ष्य निर्धारित कर लें। इस्पात उत्पादन के लिए ठोस लक्ष्य निर्धारित करना जितना आवश्यक है, उतना ही श्रम घण्टे की उत्पादन क्षमता, उत्पादन कीमतो तथा प्रतिफलों के लिए भी ठोस लक्ष्य निर्धारित करना आवश्यक है। इस प्रकार निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करना सम्ब-न्धित लोगो के लिए आवश्यक हो जाता है। उन्हें पूरा करने के लिए सभी को एक प्रकार की चुनौती मिल जाती है। यदि निर्दिष्ट कार्य पूरा करने में कोई कमी हुई तो सभी लोग इसे अपनी असफलता समझेंगे। इसके अतिरिक्त, इसमें यह अत्यन्त व्यावहारिक बात भी तो है कि असफलता के लिए उत्तरदायी

अतिरिक्त भाण्डार के रखने की व्यवस्था पर बल देना पड़ता। निस्सन्देह किसी अच्छी परिवहन-व्यवस्था की आवश्यकता की भी चर्चा की गई होती। परन्तु अन्य अच्छी तथा उपयोगी बातों की तुलना में इसकी आसानी से उपेक्षा की जा सकती थी। सन् 1825 ई० में न्यूयार्क राज्य ने एक नहर खोली, जिसने पश्चिमी प्रदेश के अन्ध इलाके को आबादी वाले भाग से मिला दिया। नहर बनते ही खाद्य की कमी समाप्त हो गई और मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि फिर ऐसा कभी नहीं हुआ। यह नहर उस योजना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। सर्वाधिक महत्त्व की चीजों को चुनने तथा उन पर बल देने का महत्त्व आज के किसी विकासोन्मुख देश में उतना ही है।

. 6 .

किसी अच्छी योजना की दूसरी आवश्यकता यह है कि वह औद्योगिक सफलता के दृश्य तथा अदृश्य दोनों ही पहलुओं पर बल दे। किसी आधुनिक औद्योगिक समाज का वृहत्तर भाग, पानी में तैरने वाले एक हिमशैल की भांति, दृष्टि से ओझल ही रहता है। और, हिमशैल ही की भांति, उसके अदृश्य भाग में ही [illegible] जहाज में टक्कर मारकर उसे डुबोने की अधिक क्षमता है। बड़ी-बड़ी मशीनों के कारखाने तैयार करना तथा उद्योग खड़े करना, जैसे इस्पात के कारखाने, रेल [illegible] की खानें, वायुयान, तेलशोधक यन्त्र आदि [illegible] दृश्य सफलता है। और यह देखना कि [illegible] उद्योगों आदि का उपयोगी एवं कुशल ढंग [illegible]

की उचित आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति यथासम्भव सस्ते ढंग से कर सके ?

यदि इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार नही किया जाता तो सम्भव है कि उनका उत्तर बिना सोचे-समझे ही दे दिया जाए। विशेषकर इस बात का खतरा है कि अपेक्षाकृत अधिक विकसित देशों की उपभोग प्रणाली का सीधे अनुसरण कर लिया जाए। सम्मान तथा गौरव की इच्छा भी, जैसे टेलीविज़न एवं अत्यन्त चौड़े राजपथों का निर्माण एवं दिखावा, इसे प्रभावित कर सकती है। उपभोग का सिद्धान्त इसकी अपेक्षा अधिक लोकतन्त्रीय होना चाहिए। उन वस्तुओं पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए जो सामान्य आय की हैसियत में हों, अर्थात् जो किसी सामान्य औसत परिवार द्वारा खरीदी जा सकें। इसे सिद्ध करने का उत्तरदायित्व अन्य लोगों पर है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी कम आय वाले देश के लिए सस्ती बाइसिकिलें सस्ती मोटरों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गाँवो में रोशनी प्रदान करने के लिए कोई कम खर्च वाली विद्युत् पद्धति किसी बहुत अधिक बिजली उत्पादन करने वाली पद्धति से, जिसमें ऐसे साज-सामानों की आवश्यकता होती है, जो जनता की शक्ति के परे होते हैं, कहीं अच्छा है। कम खर्च वाले रेडियो महत्त्वपूर्ण हैं, टेलीविज़न तो भविष्य मे भी आ सकते हैं। और अन्त में, प्रचुर मात्रा में भोजन, वस्त्र तथा रहने के लिए उचित स्थान जितने आवश्यक हैं, उतनी अन्य कोई वस्तु नहीं, क्योंकि ये वस्तुएँ तो सर्वसाधारण की आवश्यकताएँ हैं।

मुझे यह कहते प्रसन्नता होती है कि सर्वसाधारण की आवश्यकता को ही दृष्टि मे रखकर उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन की योजना बनाने में भारत जितना आगे गया है उतना अन्य कोई विकासोन्मुख देश नही। परन्तु सभी विकासोन्मुख देशो मे यह आवश्यक है कि हम बहुत स्पष्ट रूप से उस उपभोक्ता को ही अपनी दृष्टि के समक्ष रखे, जिसके लिए ही अन्ततोगत्वा नियोजन होता है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बातें क्या हैं, इसे निर्धारित कर लेना औद्योगिक सफलता की अदृश्य तथा दृश्य दोनो ही आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता करना, तथा उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं की पूर्ति हो, इसे स्पष्ट रूप मे समझ लेना—मेरे विचार से आधुनिक विकास नियोजन मे इन्ही बातो की कमी है।

4

शिक्षा एवं आर्थिक विकास

चूंकि पिछले कुछ वर्षों में एशिया तथा अफ्रीका के बहुत-से नये देश उपनिवेशवाद के बन्धन से मुक्त हुए हैं और वहां के लोग श्रेष्ठ नागरिक के रूप में अपने राष्ट्रीय विकास के कार्य में जुट गए हैं, उन्हें यह निर्णय करना पड़ा है कि शिक्षा विस्तार में पैसा लगाने को क्या प्राथमिकता दी जाय। क्या उसे सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाए? क्या अन्य सभी बातों में प्रगति के लिए शिक्षा अनिवार्य है? या, पहले एक आर्थिक भित्ति तैयार की जाए? जब उत्पादन आय बढ़ती है तभी अच्छी शिक्षा सम्भव हो सकती है। इसीसे स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों के चलाने के लिए साधन उपलब्ध हो सकते हैं। स्कूलों तथा शिक्षकों आदि का व्यय वहन करने के लिए किसी राष्ट्र का आर्थिक विकास आवश्यक है।

इस प्रकार के वाद-विवाद हुए हैं। कभी कभी तो ऐसा भी हुआ है कि निर्णय भी हो गया और किसी ने यह नहीं देखा कि उसमें कोई विवाद भी था। शिक्षा को प्राथमिकता दे दी गई। या व्यय के अन्य मदों—सड़कों, हवाई अड्डों, बांधों—को प्राथमिकता दे दी गई, क्योंकि उन्हें सर्वाधिक आवश्यक समझा गया।

प्राथमिकता की यह समस्या अपेक्षाकृत नई है। अर्थशास्त्र के साथ ही अनिश्चितता का भी प्रवेश हो गया है। आजकल आर्थिक विकास को पूर्णतः आर्थिक विश्लेषण की ही समस्या मान लिया गया है। और आर्थिक विश्लेषण मे शिक्षा का स्थान अस्पष्ट है। इस अस्पष्टता के कारण इस सम्बन्ध मे यह सन्देह तथा अनिश्चितता उत्पन्न हो गई है कि किस बात को प्राथमिकता दी जाय।

. 2 .

इसे और स्पष्ट कहा जाय तो बात यह है कि हम भविष्य के अधिक उत्पादन के लिए अपने वर्तमान साधनों के प्रयोग, अथवा यों कहिये कि प्रगति के लिए बचत के प्रयोग को ही आर्थिक विकास समझने लगे हैं। हम किसी देश का विकास प्रयत्न उसके द्वारा विविध कार्यों मे लगाई जाने वाली पूंजी की मात्रा से ही आंकते है, अर्थात् इस बात से आंकते हैं कि वह भविष्य की उत्पादन-वृद्धि की इच्छा से प्रेरित होकर पूंजी लगाने के लिए स्वय अपने उपभोग मे कितना बचाता है तथा विदेशों से कितना ऋण ले रहा है। यही पर समस्या उत्पन्न होती है, क्योंकि शिक्षा एक प्रकार का उपभोग और एक प्रकार का धन विनियोग दोनों ही है। रोटी की तरह वह एक ऐसी चीज है, जिसका हम उपयोग या उपभोग करते है। परन्तु 'बांध या नहर की तरह' वह एक ऐसी चीज है, जिसमें हम इसलिए पूंजी लगाते हैं कि भविष्य में अधिक उत्पादन हो। यही अन्तर विकास में शिक्षा के स्थान के सम्बन्ध में बहुत ही भिन्न दृष्टिकोण उत्पन्न कर देता है।

जब हम शिक्षा को एक उपभोक्ता सेवा मानते हैं, तो वह एक ऐसी वस्तु बन जाती है, जिस पर हमें बचाना चाहिए। पूंजी लगाने के लिए बचत करना आवश्यक है, और बचत तभी सम्भव है जब उपभोग में कमी की जाय। परन्तु जब हम शिक्षा को एक धन विनियोग मानते हैं, तो वह एक ऐसी वस्तु बन जाती है जिस पर हमें बल देना चाहिए। हम पूंजी में विस्तार करना चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि नीति के सम्बन्ध में भारी द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है।

इस द्वन्द्व के मूल में जो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं, वे शिक्षा सम्बन्धी लगभग प्रत्येक वार्ता या चर्चा में स्पष्टतया दिखलाई पड़ते हैं। सारे ससार के दीक्षान्त भाषणकर्ता अपने अत्यन्त उदासीन श्रोताओं को स्मरण दिलाते रहते हैं कि मनुष्य केवल रोटी के ही बल पर जीवित नही रह सकता। मस्तिष्क को भी उर्वरा बनाना उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना शरीर का पोषण। बौद्धिक कार्य में केवल कार्य की ही खातिर लगे रहना उचित है; कवि, कलाकार या लेखक द्वारा आर्थिक लाभ को सफलता की कसौटी के रूप में घृणा करना न्यायोचित है। आर्थिक लेखा-जोखा का आत्मा तथा मस्तिष्क की ताजगी के लिए प्रयोग किये जाने की अर्थशास्त्रियों की प्रवृत्ति के ही कारण विख्यात लेखक कार्लाइल ने उन्हें शुष्क विज्ञान के विद्वान् प्रोफेसर बतलाया था। और इसे कौन सही मानेगा कि जनता को अज्ञान के अन्धकार से केवल इसलिए बाहर निकाला जाय कि वे अधिक उत्पादन करने लग जायें? इन दृष्टिकोणों में शिक्षा का महत्व केवल अपनी ही खातिर बतलाया गया है, अर्थात् मेरी टेड परिभाषा के

अनुसार, वह एक उपभोग्य वस्तु है। यद्यपि वह एक श्रेष्ठ उपभोग्य वस्तु है, उत्पादन मे उसका प्रत्यक्षत कोई सम्बन्ध नही। और वे लोग, जो ससार के प्रति इतना आध्यात्मिक दृष्टिकोण नही रखते, स्वभावत खाइयों, बाँधो तथा खाद कारखानो को प्राथमिकता दिये जाने पर बल देते हैं, क्योंकि ये ही तो कवियों, लेखको आदि को भोजन प्रदान करते हैं।

इनके अतिरिक्त एक और भी दृष्टिकोण है। अमेरिका के बहुत से विद्वानो मे से थ्योडोर शुल्ज के विवेचनो ने हाल मे यह सिद्ध कर दिया है कि शिक्षा में लगाया गया धन उत्पादन में काफी वृद्धि कर सकता है। इस प्रकार के हिसाब से, जिसे कार्लाइल बहुत घृणा किये होते, मनुष्यों के बौद्धिक विकास मे लगाया गया एक डालर या एक रुपया राष्ट्रीय आय मे बहुधा जितनी वृद्धि कर सकता है, उतना रेलवे, बाँधों, मशीन के औजारो या मशीनरी आदि के अन्य सामानो पर लगाया गया डालर या रुपया नही कर सकता। कृषकों तथा ग्रामीणों को निरक्षरता से मुक्त करना निस्सन्देह स्वय ही एक साध्य हो सकता है। परन्तु कृषि मे किसी भी प्रकार की प्रगति के लिए वह प्रथम और अनिवार्य कदम भी है। ससार मे ऐसा कोई भी निरक्षर कृषक-वर्ग नही है, जो प्रगतिशील हो। साथ ही ऐसा पढा-लिखा कृषक-वर्ग नही है, जो प्रगतिशील न हो। इस दृष्टि से देखने पर शिक्षा धन का अत्यन्त उपयोगी विनियोग बन जाती है।

यह बात अनेक प्रकार की शिक्षा के सम्बन्ध में सच है। हममे से अधिकाश इस बात से सहमत तो होंगे ही कि आर्थिक विकास के लिए वैज्ञानिक तथा इंजीनियर बहुत ही आवश्यक

हैं। मशीनों का अब उतना महत्व नहीं है, जितना उनके बनाने वालों का, उनकी देखभाल करने वालों का या उनमें सुधार करने वालों का। परन्तु डाक्टरों तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य-विशेषज्ञों की उत्पादनशीलता भी बहुत ऊँची है। मलेरिया का सफाया कर देने से मानवीय शक्ति तथा तज्जनित उत्पादन में भारी वृद्धि हो जाती है, जैसाकि गत पन्द्रह वर्षों के अनुभव ने सिद्ध कर दिया है। (उससे बच्चों की पैदाइश में भी आश्चर्यजनक वृद्धि हो जाती है और गत कुछ वर्षों में जब हम उधर गर्भ-निरोध की बात करते रहे है, इधर विज्ञान ने अब तक गर्भ-निरोध की दिशा में जो कुछ किया है, उससे कही अधिक सफलता उसे उसके उन्नयन मे मिली है।) नीग्रो जाति के चर्म रोग तथा पेट में कीड़े वाले रोग के निरोध से भी उत्पादन-क्षमता पर यही असर पड़ा है।

परन्तु केवल वैज्ञानिक, इंजीनियर तथा डाक्टर ही शिक्षा-सम्बन्धी अच्छे धन विनियोग नही हैं। ज्ञान के कुछ विशिष्ट और यहाँ तक कि विदेशी स्वरूपों को भी आश्चर्यजनक प्रतिफल मिलते है। स्पष्ट है कि भाषाविद अन्य संस्कृतियों के शिल्प-विज्ञान से सम्पर्क स्थापित करने में सहायक होता है। साक्षरता बढ़ने पर लेखकों की माँग होती है, जो शिक्षित लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। और सिद्ध लेखक राष्ट्रीय उत्पादन के सम्पूर्ण योग मे ठीक उसी प्रकार वृद्धि करता है, जिस प्रकार एक सफल कृषक। धन विनियोग की वस्तु के रूप में कलाकार तक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आधुनिक भारत का एक [illegible]
[illegible] -निर्माण [illegible] थियेटरों, संगीत, नृत्य [illegible]

ललित कलाओं में एक सुरक्षित कलापोषक परम्परा रहने पर ही यह उद्योग फूलता-फलता है। साधारण फिल्मे बनाने के लिए भी साधारणतया अच्छे कलाकारों की आवश्यकता पड़ती है; और अच्छी फिल्मे बनाने के लिए बहुत ही अच्छे कलाकार चाहिएँ। किसी कलाकार की कला-सम्बन्धी शिक्षा-दीक्षा में किसी ने यह सोचकर कभी पैसा नही खर्च किया कि इससे देश के विदेशी ऋण भुगतान में सहायता मिलेगी। फिर भी भारत की कला-परम्परा विदेशी मुद्रा अर्जित करने में सराहनीय कार्य कर रही है।

· 3 ·

वास्तविकता यह है कि शिक्षा तुरन्त उपयोग की जाने वाली सामग्री के रूप मे भी और भविष्य में उत्पादन बढ़ाने के लिए धन विनियोग के रूप मे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह न तो केवल उपभोग है और न केवल धन विनियोग, अपितु दोनों ही है। किसी विकासोन्मुख देश मे धन विनियोग को इतना महत्त्व दे देने के बाद शिक्षा को महज एक उपभोग्य वस्तु के रूप मे देखना उसकी महत्ता को अनुचित रूप से कम करना हुआ। कुछ नए देशो ने ऐसा ही किया है। उन्होंने अपने इस्पात कारखानो, बांधो तथा खाद कारखानो को अपने विकास का प्रतीक माना है। मिस्र का आसवां, घाना का वोल्टा तथा भारत का भाखड़ा-नंगल निश्चित रूप से विकास माने जाते हैं। उनके सम्बन्ध में चर्चाएँ चलती रहती है, उन पर धन लगाया जाता है, पर्यटकों को वे दिखाये जाते है, देश उन पर गर्व करता है।

भली-भाँति प्रशिक्षित शिक्षक भले ही भविष्य में उत्पादन की वृद्धि के लिए श्रेष्ठतर आधार प्रदान कर दें, परन्तु वे प्रगति के ऐसे मूर्त चिह्न नही माने जाते।

परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इस गलती का सुधार किया जाने लगा है, और मैं यहाँ यह कह देना चाहता हूँ कि भारत में यह गलती इतनी गम्भीर कभी नही हुई है, जितनी अन्य कम विकसित देशों में। आम तौर पर, भारत उन्नीसवीं शताब्दी के ही अनुभव पर अब भी चल रहा है, जो यह है कि शिक्षा या ईमानदार तथा सुव्यवस्थित सरकार द्वारा पोषित शिक्षा को प्रथम स्थान मिलना चाहिए। परन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि किसी भी देश ने शिक्षा को पूर्णत: विकास-धन विनियोग के रूप मे मान लिया हो। विश्वविद्यालयों के न तो छात्रों ने और न प्रोफेसरों ने अब तक अपनी इस महत्ता को भली-भाँति समझा है कि वे दुर्लभ विकास साधनों में धन विनियोग के एक स्वरूप हैं। अब मैं इस सम्बन्ध मे ही कुछ कहता हूँ।

· 4 ·

यदि शिक्षा (अब मैं विशिष्ट रूप से विश्वविद्यालयों की ही शिक्षा की बात करता हूँ) को एक उपभोक्ता सेवा मान लिया जाय तो स्वभावत: हम उसके सम्बन्ध में भी वे ही बातें सब मान लेंगे, जो उपभोग के अन्य स्वरूपों के लिए सही जान पड़ती हैं। इनमें भारी स्वच्छन्दता की भी एक बात है। 'उपभोक्ता की सम्प्रभुता' अर्थशास्त्र का एक बहुत पुराना मुहावरा है, जिसका तात्पर्य है कि उपभोक्ता को उपभोग के विभिन्न

स्वरूपों में से चुनने का पूर्ण अधिकार है। और तो और, उसे इस बात की भी पूरी छूट है कि वह उपभोग करे या न करे।

उपभोक्ता सप्रभुता की इस धारणा को यदि शिक्षा पर लागू किया जाय, तो इसका अर्थ यह हुआ कि विद्यार्थी को यह अधिकार है कि वह पढ़े या न पढे, जिस प्रकार उपभोक्ता को यह अधिकार है कि वह उपभोग करे या न करे। इसका अर्थ यह भी हुआ कि पढना या न पढ़ना व्यक्ति की और केवल व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि पढ़ने का क्षेत्र भी उसकी रुचि पर निर्भर है। इन मामलो में उसकी सप्रभु इच्छा में किसी को हस्तक्षेप करने या उसका पथ-प्रदर्शन करने का अधिकार नही है। परन्तु यदि वास्तव में विद्यार्थी दुर्लभ साधनों के धन विनियोग की एक विशिष्ट वस्तु है, फिर तो बात इतनी साफ नही है। समाज ने उसे अपनी बचत का कुछ भाग दिया है। निश्चय ही उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि इसके बदले वह उत्पादन-वृद्धि में योग दे, वापस करे, जिसकी समाज उससे अपेक्षा करता है और जिसके लिए उसने अपना दुर्लभ साधन व्यय किया है। साधनों की मात्रा जितनी ही कम होगी, उसी अनुपात में उसका दायित्व बड़ा होगा।

जैसाकि मैंने कहा है, यदि शिक्षा को एक उपभोग्य सामग्री के रूप में देखा जायगा, तो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार पाठ्यक्रम चुनने का अधिकार होगा। प्रत्येक व्यक्ति को कला में ही डिग्री प्राप्त करने का अधिकार होगा, यदि वही अध्ययन का आमतौर पर वांछित तथा फैशनेबुल पाठ्यक्रम हो। परन्तु

यदि शिक्षा एक प्रकार का धन विनियोग है, तो शिक्षा से प्राप्त प्रतिफल का नियोजन श्रेयस्कर एवं अनिवार्य भी है। देश की उपलब्ध प्रतिभा का इंजीनियरिंग, विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, कृषि तथा अन्य आवश्यक विशिष्ट क्षेत्रों में वितरित करने पर ध्यान देना आवश्यक है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि विद्यार्थियों को उनकी रुचि के प्रतिकूल पेशे में जाने के लिए बाध्य किया जाय। और विश्वविद्यालयों में विशेष विषयों की पढाई का नियोजन तो एक अत्यन्त कठिन मामला है। परन्तु मेरे कहने का तात्पर्य यह अवश्य है कि यदि शिक्षा को धन विनियोग का एक रूप मान लिया जाता है, तो आवश्यकता, प्रोत्साहनों तथा अन्य बातों पर बड़ी गम्भीरता से विचार करके ही विद्यार्थियों के विषयों का चयन किया जाय, जिससे धन विनियोग का उद्देश्य पूरा हो सके।

. 5 .

शिक्षा को धन विनियोग के रूप में देखने का प्रभाव, मेरे विचार से, विश्वविद्यालयों के संचालन तथा प्रशासन पर भी पड़ेगा। विश्वविद्यालयों को विकास की आवश्यकताओं के प्रति प्रतिक्रियात्मक होना चाहिए तथा उनका संघटन ऐसा होना चाहिए कि यह सम्भव हो सके। इसका अर्थ हुआ कि वहाँ के शिक्षक वर्ग तथा उनके अधिकृत प्रतिनिधि एक दृढ़ तथा प्रतिक्रियात्मक नेतृत्व प्रदान करें। जन-समुदाय की आवश्यकताओं का पाठ्यक्रमों, पढ़ाये जाने वाले विषयों तथा अच्छे शैक्षिक अनुशासन में भली-भाँति समावेश हो जाना चाहिए। लोकतं-

के विरुद्ध कुछ कहना या उसके विरोधी पक्ष का समर्थन करना बडा कठिन है। परन्तु अच्छा से अच्छा स्कूल मास्टर और अच्छे से अच्छे लोकतंत्रीय देशों में हमेशा ही एक निरंकुश व्यक्ति रहा है। कोई विश्वविद्यालय जब तक अपने शिक्षकों के हाथ में व्यापक एवं दायित्वपूर्ण अधिकार नहीं सौंपता और आवश्यकता पड़ने पर जब तक शिक्षक वर्ग अपने प्रतिनिधियों को नहीं सौंपता, तब तक विश्वविद्यालय का पूर्णत सफल होना सन्देहपूर्ण है। पिछले कुछ समय से दक्षिणी अमेरिका के विश्वविद्यालय अपने यहाँ बहुत ही लोकतंत्रीय सचालन का, जिसमें विद्यार्थी, स्नातक तथा शिक्षक वर्ग सभी लगभग समान रूप से भाग लेते हैं, प्रयोग कर रहे हैं। लोकतंत्रीय हो या न हो, यह योजना अवनति, असामजस्य एवं गडबडी का हेतु अवश्य है। मेरे विचार से विश्वविद्यालय स्वभाव से ही अपने शिक्षक वर्ग का एक अल्पजनतंत्र है। उस सूरत में तो उसे निश्चय ही ऐसा होना होगा, यदि शिक्षा को एक लाभपूर्ण धन विनियोग समझकर उसमें अधिकाधिक वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति अपेक्षित है।

. 6 .

परन्तु मैं शिक्षकवर्ग की भी समालोचना किये बिना नहीं रह सकता। जब शिक्षा विकास के लिए एक धन विनियोग मान ली जाती है, तो शिक्षकवर्ग पर भी कुछ विशेष दायित्व आ जाते हैं। यह किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता कि विश्वविद्यालयों की परम्परागत बातें एवं आचार आदि विकासोन्मुख देश की आवश्यकताओं के अनुकूल होते हैं। उदाहरण के लिए, अधिकांश

पुराने विश्वविद्यालयों में, जैसाकि मेरा भी विश्वविद्यालय है, बहुत से शिक्षक प्रशिक्षण कार्य को अत्यन्त उच्च कार्य मानकर उसके प्रति एक दम्भपूर्ण धारणा रखने लगे हैं। हम कहते हैं कि हमारा मुख्य कार्य अनुसन्धान करना या पुस्तकें आदि लिखना या बौद्धिक रूप से नेतृत्व करना है। हम यह मानते हैं कि विद्यार्थियों को इससे ही पर्याप्त लाभ हो जाता है कि वे हमें सड़क पर जाते हुए देख लें या सप्ताह मे केवल तीन बार बेजान तथा लड़खड़ाती भाषा में बोले गये हमारे भाषण सुन लें। यदि शिक्षा की कसौटी उत्पादन-क्षमता है, तो इन दृष्टिकोणों के लिए कोई स्थान नही। फिर तो शिक्षक का कार्य अपने छात्रों को ऐसा रूप देना है, उनका इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना है तथा उन्हें इस प्रकार प्रोत्साहित करना है कि वे वास्तव में अधिक उत्पादक सम्पत्ति बन जायें। यदि शिक्षक ऐसा नही करता, तो वह दुर्लभ सार्वजनिक साधनों को बरबाद कर रहा है।

और, विकासोन्मुख देशों के विश्वविद्यालयों द्वारा पढ़ाये जाने वाले विषयों या डिग्रियों के सम्बन्ध में अन्य देशों की नकल करना उचित नही। अर्थशास्त्र का प्रोफेसर होने के नाते मैं नये देशों मे पढ़ाये जाने वाले अर्थशास्त्र की बहुत-सी बातें पसन्द नही करता। यह अर्थशास्त्र इन देशों की समस्याओं की डाक्टरी ढंग से जाँच करने तथा उनके व्यावहारिक हल प्रदान करने की चिन्ता ही नही करता। उलटे वह बहुधा ही केम्ब्रिज विश्वविद्यालय, लन्दन स्कूल या हार्वर्ड विश्वविद्यालय मे आज-कल चालू, सर्वसाधारण के लिए अनुपयोगी तथा जटिल आदर्शों एवं पद्धतियों की नकल मात्र है। साधारण व्यक्ति की हैसियत

में मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या वास्तव मे चिकित्सा-सम्बन्धी शिक्षा गरीब देश की स्थिति के अनुकूल अपनाई गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप में, और वस्तुतः नई दिल्ली मे भी, हमें ऐसे डाक्टरों की अपेक्षा होती है, जो प्रशिक्षित तथा पूर्णत. विश्वसनीय हो। इस प्रकार का पूर्ण प्रशिक्षण आधुनिक चिकित्सा शिक्षा की अनिवार्य बात है। परन्तु विकासोन्मुख देश मे, जिसके साधन अल्प होते हैं, यदि हम कुछ थोड़े से लोगों के लिए इन ऊँचे आदर्शों की ही बात करते रहे, तो क्या यह सम्भव नही है कि हम बहुसख्यक समुदाय के लिए साधारण चिकित्सा सहायता भी न प्रदान कर सके ? क्या यह सच नही है कि राजधानियो में तो अच्छे से अच्छे डाक्टर मिल जाते हैं, और गांवो में एक टूटी हड्डी ठीक करने वाला तथा साधारण चिकित्सा सहायता प्रदान करने वाला भी डाक्टर नही होता ?

धन विनियोग की समस्या हमेशा ही ऐसी पूंजी प्राप्त करना है, जो कम से कम मूल्य पर आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सर्वाधिक अनुकूल हो। चिकित्साशास्त्र तथा अर्थशास्त्र जैसे बिलकुल ही भिन्न क्षेत्रों में इस बात का सकेत मिलता है कि पूंजी लगाने का ऐसा स्वरूप, जिसमें पैसा कम लगे तथा जो विकासोन्मुख देश की आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल हो, सचमुच खोजा जा सकता है। पारिभाषिक शब्दों में कहने पर इसका अर्थ यह हुआ कि धन विनियोग का अभिनवीकरण किया जा सकता है। अर्द्धविकसित देश के लिए बहुत आधुनिक ट्रैक्टरों की मांग महज इसलिए नही की जा सकती कि वे अमेरिका या रूस मे प्रचलित हैं। यही बात शिक्षा के भी सम्बन्ध मे लागू होती है।

पुराने विश्वविद्यालयों में, जैसाकि मेरा भी विश्ववि
बहुत से शिक्षक प्रशिक्षण कार्य को अत्यन्त उच्च कार्य
उसके प्रति एक दम्भपूर्ण धारणा रखने लगे हैं। हम क
हमारा मुख्य कार्य अनुसन्धान करना या पुस्तकें आदि
या बौद्धिक रूप से नेतृत्व करना है । हम यह मानते
विद्यार्थियों को इससे ही पर्याप्त लाभ हो जाता है कि वे ह
पर जाते हुए देख लें या सप्ताह में केवल तीन बार बेज
लड़खड़ाती भाषा में बोले गये हमारे भाषण सुन लें। य
की कसौटी उत्पादन-क्षमता है, तो इन दृष्टिकोणों के ि
स्थान नहीं। फिर तो शिक्षक का कार्य अपने छात्रों को ए
देना है, उनका इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना है तथा
प्रकार प्रोत्साहित करना है कि वे वास्तव में अधिक
सम्पत्ति बन जायें। यदि शिक्षक ऐसा नहीं करता, तो व
सार्वजनिक साधनों को बरबाद कर रहा है।

और, विकासोन्मुख देशों के विश्वविद्यालयों द्वारा
जाने वाले विषयों या डिग्रियों के सम्बन्ध में अन्य
नकल करना उचित नहीं। अर्थशास्त्र का प्रोफेसर होने
मैं नये देशों में पढ़ाये जाने वाले अर्थशास्त्र को बहुत
पसन्द नहीं करता। यह अर्थशास्त्र इन देशों की समस
से जाँच करने तथा उनके व्यावहारिक
वह बहुधा
बढ़ा

उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल है।

तात्पर्य यह कि विकासोन्मुख देश को अपनी शिक्षा-पद्धति का नियोजन विकास की विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। उसे पुराने तरीको की महज नकल नही करनी चाहिए। विकास-क्रम मे बाद को आने के कारण नये देशों का यह सौभाग्य है कि वे अन्य लोगों के अनुभवों से सीख सकते हैं। परन्तु यह उनका दुर्भाग्य है कि अन्य देशों में जो बहुत कुछ विद्यमान है, उसकी नकल वे बिना हानि उठाये नहीं कर सकते। जैसा कि ऊपर मैंने संकेत किया है, नकल करने में भी अपने ढंग की उतनी ही परेशानियाँ हैं, जितनी नई पद्धतियाँ चालू करने में।

. 7 .

अब मैं इसी बात को संक्षेप में तथा एक आम नियम के रूप में कह देना चाहता हूँ। कोई विकासोन्मुख देश शिक्षा पर लगाये गये अपने पैसे, परिश्रम आदि को बिना किसी हिचक के धन विनियोग मान सकता है। इस बात से कि इनमें उपभोग के भी कुछ पहलू विद्यमान होते हैं और वे अपने आप में ही व्यक्ति के लिए उचित पुरस्कार हैं, मुख्य प्रश्न में कोई गड़बड़ी नहीं आने देनी चाहिए। इस बात से कि कोई वस्तु उपभोक्ता सेवा तथा समाज के लिए उत्पादन-वृद्धि की साधन दोनों ही है, धन विनियोग के रूप में उसकी महत्ता रंचमात्र भी कम नहीं होती। उलटे इससे उसकी महत्ता बढ़ जाती है।

परन्तु जब हम शिक्षा को धन विनियोग मानें, तो हमें उसे सार्थक रूप में ही लगाने पर विचार करना चाहिए, जिस प्रकार हम अन्य किसी भी पूँजी व्यय के सम्बन्ध में सोचते हैं। पुराने तथा अपेक्षाकृत अधिक विकसित देश अनिवार्यतः ऐसा नहीं करते और न तो उनके लिए ऐसा करना आवश्यक ही है। उनकी परम्पराएँ भिन्न होती हैं; धन के प्राचुर्य ने उनके लिए अपेक्षाकृत निरुद्यमी होना सम्भव कर दिया है। नया देश उन लोगों के प्रति इतना ढीला नहीं हो सकता, जिनमें वह पैसा लगाता है। इन लोगों को समाज के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, तो इन्हें इन सुविधाओं का पात्र बनने के लिए परिश्रम करना चाहिए। शिक्षक लोग इस विशिष्ट राष्ट्रीय साधन के संरक्षक हैं और उन्हें इसे बरबाद नहीं होने देना चाहिए। देश को यह देखना चाहिए कि उसका शिक्षा-सम्बन्धी धन विनियोग

उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल है।

तात्पर्य यह कि विकासोन्मुख देश को अपनी शिक्षा-पद्धति का नियोजन विकास की विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। उसे पुराने तरीकों की महज नकल नहीं करनी चाहिए। विकास-क्रम में बाद को आने के कारण नये देशों का यह सौभाग्य है कि वे अन्य लोगों के अनुभवों से सीख सकते हैं। परन्तु यह उनका दुर्भाग्य है कि अन्य देशों में जो बहुत कुछ विद्यमान है, उसकी नकल वे बिना हानि उठाये नहीं कर सकते। जैसा कि ऊपर मैंने संकेत किया है, नकल करने में भी अपने ढंग की उतनी ही परेशानियाँ हैं, जितनी नई पद्धतियाँ चालू करने में।

5

उत्पादन का माध्यम

अब मैं विकासोन्मुख देश मे औद्योगिक उत्पादन के माध्यम के सम्बन्ध मे कुछ कहूँगा, विशेषकर उस सस्था के सम्बन्ध में, जो किसी भी स्तर पर आर्थिक क्रियाकलाप चालू रखने के लिए किसी न किसी रूप में अनिवार्य है। मेरा तात्पर्य निगम या कम्पनी से है।

पहले तो उत्पादन के निगमीय संघटन की अनिवार्यता पर बल दिया जाना चाहिए। भविष्य में आर्थिक व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा, इस सम्बन्ध में संसार के सभी धर्म, आमतौर पर स्पष्ट एवं निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहते। बहुत दिनों से मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि किसी अर्थशास्त्री ने अब तक फोर्ड फाउन्डेशन से इस सम्बन्ध में अनुसन्धान करने के लिए कोई अनुदान क्यों नहीं माँगा। जैसाकि ईसाइयों को धर्मगुरुओं द्वारा बतलाया जाता है, स्वर्ग में सोने का उपयोग सड़क पर पिटाई के लिए किया जाता है न कि मुद्रा बनाने के लिए। हमें यह भी बतलाया जाता है कि मुख्य उपभोक्ता सामग्री एक तार वाद्ययंत्र है। हम यह तो नहीं जानते कि इस अन्य सामानों के बनाने के लिए उत्पादन-मशीनरी क

स्वरूप क्या है। परन्तु वहाँ के सम्बन्ध में भी इतना तो हम निश्चित रूप से कह ही सकते हैं कि यदि कुछ भारी पैमाने पर मालो का उत्पादन होता है, तो वह किसी औद्योगिक फर्म या निगम द्वारा ही होता होगा। हमारे इस भौतिक संसार में, किसी भी देश में, चाहे वह भारत हो या अमेरिका, या इग्लैंड या रूस, जहाँ उत्पादन का कोई भी कार्य किया जायगा, फर्म का होना आवश्यक और अनिवार्य है।

इसका कारण सीधा है : आज के उत्पादन-सम्बन्धी उद्यमों में, जैसे इस्पात, अल्यूमीनियम, खाद, लारियों या मशीनो के औज़ारों आदि के बनाने में, हस्तकौशल एवं बौद्धिक प्रतिभा का विभिन्न रूपों में समन्वय करना पड़ता है, ताकि विभिन्न कार्य पूरे हो सकें। इस प्रकार के कौशल एव प्रतिभाएँ दुर्लभ नही हैं, या यह भी नही है कि वे कुछ विशिष्ट लोगो या केवल किसी-किसी के पास ही हों। यदि उद्योग-धन्धों में अलौकिक प्रतिभा का रहना अनिवार्य होता, तो मनुष्य की स्थिति बड़ी गम्भीर हो गई होती, क्योंकि अलौकिक प्रतिभा तो विरले लोगों ही में होती है, और उसके सम्बन्ध में यह नही कहा जा सकता कि वह कब और कहाँ और किस मात्रा मे मिल सकती है। किसी औद्योगिक फर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सर्वत्र उपलब्ध सामान्य प्रतिभा का समन्वय करके उससे ऐसे काम करवा लेती है, जो अकेले व्यक्ति नही कर सकते। वह एक संश्लिष्ट व्यक्तित्व है, जिसमें बहुत से व्यक्ति संयुक्त हुए होते है और जितना कुछ वह पूरा कर लेती है, उतना इन व्यक्तियो के अलग-अलग कार्यो का योग नही हो सकता।

यह संश्लिष्ट व्यक्तित्व सीधे-सादे छोटे पैमाने के उत्पादन, जैसे अधिकांश कृषि कार्य के लिए आवश्यक नहीं है। अधिकाश सरकारी कार्यों, जैसे न्यायिक कार्य, राजस्व की वसूली या सार्वजनिक शिक्षा के संचालन के लिए भी यह आवश्यक नहीं। ये कार्य तो कुछ व्यापक और स्थिर नियमों के अधीन पूरे किये जाते हैं। परन्तु आधुनिक उद्योग की सबसे बड़ी विशेषता उसकी बड़े पैमाने की इकाइयाँ, जटिल शिल्प-विज्ञान तथा वे विभिन्न माँगें हैं, जो आज का बाजार उसके समक्ष प्रस्तुत करता है। उसमें प्रत्येक आकस्मिक स्थिति के लिए पूर्वनिर्धारित नियम नहीं बने रह सकते। इसके बजाय उसमें निरन्तर बदलनेवाली परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बदलते रहने की क्षमता चाहिए, और इस प्रकार का अनुकूलीकरण तभी सम्भव है, यदि बहुत से अलग-अलग व्यक्तियों के विभिन्न शिल्प-ज्ञान तथा अनुभव का आवश्यकता के अनुसार समन्वय हो सके। इस प्रकार का समन्वय निगम कर सकता है। और इन विभिन्न कार्यों के संचालन के लिए वह एक दक्ष, बहुमुखी, भले ही संश्लिष्ट या बनावटी, व्यक्तित्व है।

यदि हम निगम को एक व्यक्तित्व के रूप में देखें, तो उसके प्रशासन के सम्बन्ध में हमें बहुत सी बातें समझ में आ जायें। सामान्य व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वच्छन्दता की हालतों में ही अपना पूर्ण विकास कर पाता है। किसी एक व्यक्ति के आचार को बात-बात में किसी अन्य व्यक्ति के अधीक्षण में रख देने से उसकी प्रतिभा घट जाती है और वह उतने अच्छे कार्य नहीं कर पाता। कोई व्यक्ति उस समय सर्वश्रेष्ठ कार्य [illegible]

उसके समक्ष कुछ स्पष्ट लक्ष्य तथा साधन हों, जिनमें ज्ञान भी शामिल है, जिसके द्वारा स्वेच्छा से प्रेरित होकर वह इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे। यही बात निगम के व्यक्तित्व पर भी लागू होती है। उत्पादन कार्य करनेवाले निगम के लिए भी स्वायत्तता, अर्थात् निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने की स्वतन्त्रता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार स्पष्ट निर्धारित लक्ष्य भी महत्त्वपूर्ण है। ये बातें केवल महत्त्वपूर्ण ही नहीं है, ये तो मात्र एक ऐसी प्रशासकीय व्यवस्था हैं, जो किसी भी सफल निगम के लिए आवश्यक हैं।

. 2 .

और स्पष्ट रूप में कहने पर इसका अर्थ यह हुआ कि इस संश्लिष्ट व्यक्तित्व के समक्ष, जिसे हम फर्म या निगम कहते हैं, अपने विभिन्न अवयवों में पारस्परिक सहयोग एवं समन्वय स्थापित करने की पेचीदी समस्या रहती है। यह सहयोग तथा समन्वय बहुत अंश में तो स्वत: ही आ जाता है, निगम के कर्मचारियों के पारस्परिक मेल-मिलाप तथा विश्वास का यह परिणाम है। एक टेकनीशियन किसी दूसरे टेकनीशियन से सहायता लेकर अपने ज्ञान में वृद्धि करता है—वह जानता है कि वह किससे सहायता मांगे और यह भी कि जिस व्यक्ति से वह पूछता है, उसके ज्ञान तथा निर्णय पर वह कितना भरोसा कर सकता है। इसी प्रकार किसी शिल्प में कुशल श्रमिक भी किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा करता है, जब उसको दिया हुआ कार्य उसकी सामर्थ्य के परे हो जाता है। ऐसा वह स्वेच्छा से ही करता

है । व्यवस्थापक के लिए यह जानना आवश्यक है कि कब और किस प्रकार सहायता की जाय, परन्तु कोई एक व्यवस्थापक अकेले ही इस अर्थ में व्यवस्था नहीं करता कि सारे निर्णय वही करता हो । किसी सफल निगम में निर्णय करने का कार्य स्वयं निगम के ही अधिकार-क्षेत्र में निहित होता है ।

इसी प्रकार, औद्योगिक फर्म में समय को लेकर ताल-मेल बैठाने के सम्बन्ध में अनेक तथा पेचीदा समस्याएँ हैं । आधुनिक औद्योगिक प्रक्रियाएँ एक-दूसरे पर बहुत ही आश्रित होती हैं. एक स्थान पर विलम्ब हो जाने पर सामान्यतया अन्यत्र भी उसी के अनुसार विलम्ब होगा । इसलिए समय से निर्णय करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । मेरे विचार से किसी परम्परागत सरकारी कार्यालय की तुलना में औद्योगिक प्रतिष्ठान की सर्वाधिक भिन्न एवं मुख्य बात यह है कि उसकी सफलता समय से निर्णय करने पर बहुत कुछ निर्भर करती है । किसी औद्योगिक फर्म में समय पर किया हुआ कोई बुरा भी निर्णय सामान्यतः इतना हानिकारक सिद्ध नही होगा, जितना समय बीत जाने पर किया हुआ कोई अच्छा ही निर्णय । कोई बुरा निर्णय थोड़ी ही हानि उठाकर बहुधा ही बदला जा सकता है, परन्तु अच्छे निर्णय की प्रतीक्षा में जो समय नष्ट हो जाता है, वह पुनः नहीं वापस आ सकता।

इससे सीधा निष्कर्ष यह निकलता है कि निगम में स्वायत्तता का रहना तथा उसे बाह्य हस्तक्षेप से बचाना आवश्यक है । यदि बाह्य हस्तक्षेप लोगों को प्रभावित करता है, तो वह उन्हें बनाने वाले नाजुक एवं पेचीदा पारस्परिक सम्बन्धों को या तो शिथिल कर देता या पूर्णत: चौपट कर देता, जिन पर महान सहयोग का [illegible]

आधारित होता है। उदाहरण के लिए, यदि बिना कुछ सोचे-समझे किसी जाने हुए तथा योग्यतासिद्ध व्यक्ति को हटा लिया जाय और उसके स्थान पर अनजानी योग्यता या विश्वसनीयता का व्यक्ति रख लिया जाय, तो तुरन्त ही यह अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है कि निर्णयो का उत्तरदायित्व किस-किस पर और कितना-कितना होगा या उस निर्णय की विश्वसनीयता संदिग्ध हो जाती है, जिसमे नवागनुक व्यक्ति का भी हाथ होता है। अनिश्चितता तथा अनिर्णय उत्पन्न हो जाते हैं। बाह्य हस्तक्षेप का एक सामान्य रूप यह है कि कुछ प्रकार के निर्णयो की, जैसे साधन जुटाने से सम्बन्धित, उत्पादित माल की डिजाइन से सम्बन्धित, उत्पादन शैली से सम्बन्धित, मूल्यो से सम्बन्धित आदि नियमों की पुनः जांच की जाय। अनिवार्यत इस जांच मे समय लगता है। इसके परिणामस्वरूप समय से सम्बन्धित समन्वय कार्य मे बाधा पडती है। बुरे निर्णय रोकने के प्रयास मे विलम्बित और फलत महँगे निर्णय करने पड़ते हैं।

मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि निगम के व्यक्तित्व पर अच्छे इरादे से किए गये तथा बुरे इरादे से किये गये दोनों प्रकार के हस्तक्षेप का बुरा प्रभाव पडता है। दोनों मे से कोई भी उपयुक्त नही।

. 3 .

आधुनिक अमेरिकी संघटन तथा आधुनिक सोवियत संघटन दोनों ही में स्वशासन के लिए निगम की आवश्यकताओं पर बड़ा ध्यान दिया गया है। कोई आधुनिक अमेरिकी विशाल

निगम अपने शेयरहोल्डरों से, जो बाह्य हस्तक्षेप के प्रधान जरिये है, पूर्णतया स्वतन्त्र रहता है। यद्यपि दिखावे के लिए यही माना जाता है कि शेयरहोल्डरों का ही लोकतन्त्रीय नियन्त्रण है, व्यवहार में मान्यता इसी बात को दी जाती है कि शेयरहोल्डरों द्वारा व्यवस्था मे अधिक हस्तक्षेप अत्यन्त हानिकारक होगा। (अमेरिका की एक बड़ी विमान सेवा कम्पनी के मुख्य शेयर-होल्डर के विरुद्ध मुकदमा चल रहा है, जिसमें यह माँग की गई है कि वह अपनी कम्पनी की व्यवस्था में हस्तक्षेप न करे।) इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक उत्पादन सम्बन्धी निर्णयों का प्रश्न है, सभी वास्तविक अधिकार निगम में ही होता है। सरकार से भी इस अधिकार की रक्षा बड़ी सतर्कता से की जाती है।

मैं रूसी ढंग की अर्थ-व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में इतने विश्वास के साथ नहीं कह सकता। परन्तु इतना तो निश्चय है कि हाल के कुछ वर्षों मे किसी भी बात पर इतना बल नही दिया गया है, जितना व्यवस्थापकों को वह स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता दिये जाने की आवश्यकता पर, जिसके बल पर वे अपना कार्य कर पाते हैं। रूसी कारखानों के व्यवस्थापक, जो अपने कार्य मे बहुत दक्ष होते हैं और जिन्हें देखकर कोई भी विदेशी पर्यटक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, सफलता से अपने उत्तरदायित्व निभाने के लिए इस प्रकार की स्वायत्तता पर बार-बार बल देते रहते हैं।

परन्तु किसी विकासोन्मुख देश मे, निगम की स्वायत्तता के सम्बन्ध में एक विशेष बाधा उपस्थित हो जाती है। इसका एक कारण तो यह है कि निगम ने इस प्रकार के संरक्षण पाने की महत्ता को समझा नहीं है। परन्तु मुख्य कारण तो यह है कि

रुचि तथा परिस्थितियों के अनुसार यह आवश्यक हो जाता है कि इस प्रकार के देशों में अधिकांश कम्पनियाँ सरकार के निर्देश में ही संचालित हों और लोकतांत्रिक देशों में संसदीय प्राधिकार के अधीन रहकर संचालित हों।

4

किसी संसदीय प्रकार के लोकतन्त्रीय देश में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग पर जनता का स्वामित्व एक विशेष प्रयोजन से होता है। एक स्पष्ट प्रयोजन तो यह है कि उद्योग पर काफी हद तक लोकतन्त्रीय नियंत्रण रहे। इस नियंत्रण से यह तो निश्चित हो जाता है कि फर्म की कार्यविधियाँ एवं निर्णय जनता के हित में होंगे, अर्थात् उसके निर्णय विश्वसनीय तथा तर्कसंगत होंगे और आम जनता की भलाई के लिए ही होंगे। यदि इस नियन्त्रण को लागू करने का प्रयत्न नहीं किया जाता, तो चाहे कुछ भी हो, कुछ लोग तो यह कहेंगे ही कि सार्वजनिक स्वामित्व निरर्थक है। यद्यपि यह बड़ा तर्कसंगत एवं निर्दोष जान पड़ता है, विशेषकर उस सूरत में, जब हम विवाद में 'लोकतंत्रीय नियन्त्रण' वाले जादू-भरे शब्दों का प्रयोग कर बैठते हैं, इस निष्कर्ष में एक गम्भीर प्रतिवाद है, जिसे हम बहुधा देखते भी नहीं। यदि निगम में काम करने वाले व्यक्ति निगम से बाहर की किसी शक्ति के नौकर हैं, फिर वे संघटन के लक्ष्यों की चिन्ता करने भार नहीं करेंगे। उस सूरत में, चाहे कुछ भी कहिये, उनका दायित्व दोतरफा हो जाता है। एक दायित्व तो निगम के प्रति रहता है और दूसरा अधिकार के प्रति। एक आँख संघटन पर रहती है और

हो सके। विलम्ब से किये गए निर्णयों की आलोचना भले ही कर ली जाय, उन्हें आसानी से सुधारा नहीं जा सकता। और गलत निर्णयों से भी बचना आवश्यक है, भले ही समय से न किये जाने वाले निर्णय मूलत अपेक्षाकृत अधिक हानिप्रद हों।

मैं यह दुहरा देना चाहता हूँ कि समस्या यह नहीं है कि हस्तक्षेप अच्छे उद्देश्य से या बुरे उद्देश्य से किया जाता है। समस्या का सम्बन्ध तो उस बात से है, जो फर्म या निगम में हस्तक्षेप करती है, उसे तोड़ती-मरोड़ती है या उसे बरबाद करती है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मामला है, क्योंकि बाह्य हस्तक्षेप स्वायत्तता को नष्ट करने के बाद बुद्धिमानी या अपने सच्चे उद्देश्य की आड़ में हमेशा ही अपने कार्य का औचित्य सिद्ध करना चाहेगा। यह भी कोई तर्क है?

5

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि कोई भी कम्पनी या फर्म, व्यक्ति की भाँति, तभी दक्षता से कार्य कर सकती है, यदि उसे कुछ निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने की स्वतन्त्रता हो। ऐसा होने से उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो पाता है। *किसी संसदीय लोकतंत्र में सार्वजनिक निगम की* दूसरी बड़ी समस्या उसके लक्ष्यों को लेकर है। बड़ी विचित्र बात है कि उधर तो यह भी खतरा है कि संसदीय या अन्य कोई सार्वजनिक प्राधिकार निर्णय करने के कार्य में हस्तक्षेप करके फर्म को नुकसान पहुँ[illegible] इधर यह भी खतरा है कि वह लक्ष्यों के निर्धारण में सं[illegible] का परिचय न दे। निश्चित लक्ष्यों के अभाव

बिताना कि उन्होंने अच्छा कार्य किया है, बहुधा ही अपने लिये श्रेयस्कर समझते हैं, न कि अच्छा काम करने के प्रयत्न में।

6

मैं इसका हल क्या समझता हूँ, इसके सम्बन्ध में मैं पाठक के मन में कोई सन्देह नहीं रहने देना चाहता। औद्योगिक फर्म, चाहे उसका नाम कुछ भी हो, औद्योगिक विकास के लिए अनिवार्य है। उसकी कई माँगें होती हैं, मुख्य माँग तो यह है कि दिन-प्रतिदिन के निर्णय करने के कार्य में उसे स्वतन्त्रता हो, लगभग पूर्ण स्वतन्त्रता। यह स्वतन्त्रता गलती करने के अधिकार में भी हो, क्योंकि गलती बहुधा ही तेज गति से काम करने के मूल्य के रूप में ही होगी, और वह भी बहुत छोटा मूल्य। सैनिक कार्यों के संचालन में भी स्वतन्त्रता उतनी ही आवश्यक है। वह तो स्वाभाविक तौर पर प्रदान की ही जाती है। और [illegible] भी इनकार नहीं किया जा सकता कि सेनापतियों ने गलती [illegible]ने के अपने अधिकार का पूर्णतः प्रयोग किया है। सैनिक [illegible] में ऐसा विलम्ब, जो गलती बचाने के लिए किया जाता [illegible] ही एक अक्षम्य अपराध माना जाता है। अमेरिका में [illegible] वर्ष पहले हमारी एक बड़ी मोटर कम्पनी ने एक ऐसी मोटर [illegible] की जिसमें एक भारी त्रुटि रह गई थी। यह मनन कर [illegible]न व्यय किया गया कि जनता एक ऐसी बड़ी मोटर चाहती [illegible] देखने में ऐसी लगे जैसी किसी सार्वजनिक [illegible] की। वस्तुतः जनता का इसमें रंचमात्र भी अनुराग नहीं था। [illegible] सार्वजनिक स्वामित्व वाला निगम होता, तो यहाँ

में सार्वजनिक स्वामित्व वाली फर्म की सफलता का मापदण्ड बहुत स्पष्ट नहीं होगा।

अमेरिका या पश्चिमी यूरोप के किसी आधुनिक औद्योगिक निगम के लक्ष्य काफी हद तक निश्चित होते हैं : मोटे तौर पर सर्वाधिक सफल निगम वह होता है, जो लाभ भी काफी करता है और जिसकी विकास-गति अपने प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा तीव्र होती है। (किसी उन्नतिशील निगम का प्रधान होना अमेरिका में निस्सन्देह एक गर्व एवं आत्मश्लाघा की बात है, परन्तु उस सामान्यतया बड़ी फर्म को अनिवार्यतः अधिक सम्मान प्रदान किया जाता है, जिसके विस्तार की गति अपेक्षाकृत तीव्र होती है।) उत्पादन तथा लाभ के लिए लक्ष्य निर्धारित करना एव इन लक्ष्यों की प्राप्ति तथा उनसे भी आगे बढ जाने के लिए प्रयत्न करना, सोवियत नियोजन की एक मार्के की बात है।

विकासोन्मुख देशों मे सार्वजनिक निगम के लक्ष्य कदाचित् ही कभी इतने स्पष्ट होते हों। लाभ को अधिकाधिक बढ़ाना सन्देहात्मक रूप में पुराने ढग का पूंजीवाद समझा जाता है, जिसे बहुत से नये देश अस्वीकार कर देते हैं। आगे बढ़ने तथा विस्तार करने की इच्छा कदाचित् ही कभी निश्चित् एवं दृढ़ होती हो। आदर्श प्रकार के ही लक्ष्य, जैसे आम जनता की यथोचित सेवा करना या श्रमिकों की चिन्ता करना आम रूप में निर्धारित होते हैं। उनका आदर्श प्रकार का होना ही उनके मार्ग मे बाधक होता है—कोई भी उनके सम्बन्ध में यह प्रश्न उचित [illegible] कर सकता है कि इन आदर्शों की पूर्ति हो रही है या नहीं। जो इनके लिए उत्तरदायी होते हैं, वे इसी ढील [illegible] में

है। इसी प्रकार उनमे धर्मनिक सेवा की कार्यविधियो एवं नित्य नियमों का प्रवेश भी हानिकारक है। इन कार्यविधियो एव नियमो का प्रयोग भले ही इस स्तुत्य उद्देश्य से किया जाय कि सभी कर्मचारियो के प्रति समानता का व्यवहार हो, परन्तु इसका परिणाम यह हो सकता है कि व्यक्तियो के वे पारस्परिक सीधे-सादे समाधान तथा आत्मप्रेरित समन्वय एव सहयोग नष्ट हो जायें, जिन पर कार्य का सफल सचालन आधारित होता है। ससार मे बहुत सी बातों मे वाछनीय के ऊपर अवाछनीय को वरीयता देकर उसे स्वीकार करना पडता है, और आधुनिक उद्योगवाद मे ऐसी ही एक बात पूर्णत न्यायसगत नियमो तथा काफी हद तक सन्तोषप्रद सफलता के बीच वरीयता देने की है।

.7

परन्तु यदि निगम को उसके निर्णयों के सम्बन्ध मे वाह्य प्राधिकार के हस्तक्षेप से बचाना श्रेयस्कर है, तो साथ ही वाह्य धिकार को भी निगम को आदेश देने मे कोई नरमी नहीं ीचाहिए। उसके द्वारा निर्धारित लक्ष्य बहुत स्पष्ट तथा ाधी-सादी भाषा मे व्यक्त होने चाहिएँ। यह ठीक है कि सभी ाजो मे सफलता को ही उसका सबसे बड़ा पुरस्कार समझा है, परन्तु इसके सम्बन्ध मे कभी कोई सन्देह नही रहना ए कि सफलता किसे कहते हैं।

दि मुझे किसी विकासोन्मुख देश के सार्वजनिक निगम ा के सम्बन्ध में कोई मापदण्ड निर्धारित करना हो, तो

कटु आलोचना हुई होती । इसके बाद निश्चित रूप से यह आवश्यक कर दिया जाता कि अब आगे से कार के डिजाइन में किये जाने वाले सभी वांछित परिवर्तन सार्वजनिक परीक्षकों के एक बोर्ड के समक्ष रखे जायँ । ऐसा करने से सम्भवत: भविष्य में फिर ऐसी गलती न हुई होती । परन्तु यह भी तो सम्भव था कि जब तक बोर्ड मोटर की सुन्दरता की समस्याएँ हल कर पाता, तब तक यहाँ कार्य में बहुत विलम्ब होता, जो अन्त में बड़ा मँहगा पड़ता । इस प्रकार की कार्य-स्वतन्त्रता की आवश्यकता केवल हमारी ही पद्धति या अन्य किसी एक पद्धति के लिए ही नहीं है। निगम का स्वरूप ही ऐसा होता है कि यह स्वतन्त्रता सभी पद्धतियों के लिए आवश्यक है ।

इस स्वतन्त्रता में कर्मचारियों को नियुक्त करने तथा उन्हें बरखास्त करने की भी स्वतन्त्रता रहनी चाहिए । परन्तु इस विचार से कि इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न हो, ऐसा एक निश्चित मान के अनुसार ही किया जाना चाहिये । विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों को, विभिन्न शर्तों पर, विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार नियुक्त करने की स्वतन्त्रता रहने पर ही एक व्यक्ति का कौशल किसी दूसरे का, तथा किसी एक व्यक्ति का ज्ञान अन्य व्यक्ति के ज्ञान का पूरक हो सकता है, तथा यह स्वतन्त्रता ही फर्म नामक संश्लिष्ट व्यक्तित्व को इतना समर्थ बना देती है कि जो कुछ वह कर सकता है, कोई एक व्यक्ति नहीं कर सकता । सार्वजनिक निगम में राजनीति एवं संरक्षण के प्रवेश उन सार्थक, देखभाल एवं नाजुक सम्बन्धों के लिए बहुत हानिकारक हैं, जिन पर [illegible] व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास निर्भर रह

मैं इसे उसके द्वारा उस अर्जित धन को ही मानूँगा, जो वह अपने विस्तार के लिए प्रदान करता है। किसी निर्दिष्ट या तत्सम्बन्धित क्षेत्र में, योजना के ढाँचे के अन्दर ही रहकर, इस प्रकार का विस्तार सार्वजनिक क्षेत्र की किसी भी फर्म का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। सर्वाधिक सफल फर्म वह कही जायगी, जो अपनी दक्षता तथा प्रयत्नों से इतना धन अर्जित कर लेती है कि उसका अधिकतम विकास हो सके। कदाचित् अन्य और भी लक्ष्य वाछनीय हो। परन्तु आवश्यक यह है कि लक्ष्य चाहे जो भी हो, वह निश्चित हो, उसकी सफलता या असफलता आँकी जा सके, वह सर्वविदित हो तथा दृढ़ता से वह कार्यान्वित की जाय।

यद्यपि समाज को उन गलतियों को क्षमा कर देना चाहिये, जो सफलता की प्राप्ति के प्रयत्न में हो जायँ, उसे उस असफलता को कभी नही सहन करना चाहिये जो निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में हो। सच तो यह है कि लक्ष्यों का न प्राप्त कर सकना ही असफलता है, न कि कोई एक विशिष्ट गलती। स्वायत्तता का अर्थ यह नही कि जनता के समक्ष आप कम उत्तरदायी है। उलटे, आप अधिक उत्तरदायी है। परन्तु यह उत्तरदायित्व तरीके, कार्यविधि या व्यक्तिगत कार्य को लेकर नहीं है, अपितु परिणाम को लेकर है।